प्रस्तावना।



यह दिगंबर जैन ग्रन्थमालाकी ४९ वीं पुस्तक दिगंबर जैनके १०वें और ११वें वर्षकी भेट स्वरूप पाठकोंकी सेवामें समर्पित है। इस पुस्तकको धर्मचन्द्रजीने बडे परिश्रमसे संग्रह किया है। इस पुस्तकके सर्व विषय जो जैन सिद्धान्तोंसे सम्बन्ध रखते हैं, वे संक्षेपमें बडी बुद्धिमानीके साथ क्रमसह रखे गये हैं। पुस्तकका प्रत्येक विषय उत्तम और मनन करने योग्य है।

इस पुस्तकको प्रकाशित करनेका विचार बहुत दिनसे धर्मचन्द्रजी कर रहे थे परन्तु तब आर्थिक सहायता पूरी न हो सकनेसे उनकी इच्छा पूर्ण न हो सकी। अब कतिपय उदार महाशयोंकी कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त होने पर यह पुस्तक आपके हाथमें आ सकी है। इस पुस्तकसे पाठकगण लाभ उठाकर श्रीयुत धर्मचन्दजीका और हमारा परिश्रम सफल करेंगे।

इस पुस्तकके प्रकाशित करनेमे हमको निम्नलिखित सहायता उदार धर्मात्माओं द्वारा प्राप्त हुई है—

१००) श्रीयुत मुनीम धर्मचन्द्रजी (पुस्तकके लेखक)
१०) ,, शाह हीराचंद गीगाभाई, भावनगर
१०) ,, शाह रामचंद त्रिभुवनदास, घोघा
५) ,, शाह केशवलाल त्रिभुवनदास, बड़ौदा.
९) ,, शाह छगन धनजी, भावनगर

५) . शाह वल्लभदास ईश्वरदास, वलामण

२०) शाह छोटालाल वेलाभाई, अंकलेश्वर

१०) . शाह नाथुभाई प्राणजीवनदास चोकसी, ,,

५. , कीलाभाई छगनलाल, इंदौर

५) ,, शाह अमृतलाल नलुकचंद (श्वे०). नाडल

५) . शाह लल्लुभाई नानचंद (श्वे०). वीरमगाव

५) ,, शाह फुलचंद शिवचंद, साकलाव

१०) . शाह अमथालाल पदमशी, कडीआदरा

९।।,, ,, आंतुडीके पचोमे ग्राम ।

७) ,, फुटकर.

२५) ,, सेठ हरीभाई देवकरण, शोलापुर

५, अंतमें जीवकोर बहेन जवुसर

५) . बहेन मित्र वलामण

५) . कुंवरबाई, बरानपुर

२५४।।।)

समाज सेवक—

सूरत
श्रावण वदी २०
वीर सं. २४०८

मूलचंद किसनदास कापडिया
संपादक, दिगंबर जैन ।



श्रीयुत मुनीम धर्मचन्द्रजीका
संक्षिप्त जीवन चरित्र।

आपका जन्म मिती आसौज शुक्ला ८ सं० १९०७ को अंकलेश्वर जिला भरुच (गुजरात) में हुआ था। आपने मेवाडा जातिको सुशोभित किया है। यह दो भाई और एक बहिन हैं। भाईका नाम वखतचंद और बहिनका नाम कंकुबाई है। इनके माता पिता इनको छोटी ही अवस्थामें छोडकर परलोक चले गये थे। इस कारण यह विशेष विद्याभ्यास न कर सके और बाल्यावस्थामें इनकी संगति भी अच्छे पुरुषोंसे न हो सकी।

यह दोनों भाई अपनी पैतृक जमीनकी २००) रुपयेकी आमदनीसे अपना निर्वाह करते थे। इसी समयमें इनके मामाका भी अन्तकाल हो गया। मामाजीने मृत्यु समयके पहिले इन दोनों भाइयोंको बुलाकर अपनी सम्पत्तिका मालिक बनाना चाहा। धर्मचन्द्रजी इससे सहमत नहीं थे, किन्तु उनके छोटे भाई वखतचंद लोभमें आ गये और अपने साथ इनको भी ले लिया। मामाको ७०००) लोगोंसे कर्ज लेना था और करीब ३,०००) लोगोंको देना भी था, किन्तु लोगोंने कर्ज देना स्वीकार न किया और लेनेवाले आ उपस्थित हुए। तब इन्होंने अपनी पैतृक जमीन बेचकर मामाका कर्ज चुकाया। ऐसे ही समयमें इनका विवाह हुआ, जिससे यह और भी ऋणी हो गये। ऐसी अवस्था देखकर इन्होंने रुईवालोंके यहा नौकरी करना प्रारंभ की। परन्तु यह नौकरी भी फसलके समय ही मिलती थी, बादमें इनको बेकार ही बैठा रहना पड़ता था। इस प्रकार इन्होंने यह समय बड़ी कठिनतासे व्यतीत किया।

श्रीयुत मुनीम धर्मचन्द्रजीका
संक्षिप्त जीवन चरित्र।

आपका जन्म मिती आसोज शुक्ला ८ सं० १९०७ को अंकलेश्वर जिला भरुच (गुजरात) में हुआ था। आपने मेवाडा जातिको सुशोभित किया है। यह दो भाई और एक बहिन हैं। भाईका नाम बखतचंद और बहिनका नाम कंकुबाई है। इनके माता पिता इनको छोटी ही अवस्थामें छोडकर परलोक चले गये थे। इस कारण यह विशेष विद्याभ्यास न कर सके और बाल्यावस्थामें इनकी सगति भी अच्छे पुरुषोंसे न हो सकी।

यह दोनों भाई अपनी पैतृक जमीनकी २००) रुपयेकी आम-दनीमे अपना निर्वाह करते थे। इसी समयमें इनके मामाका भी अन्तकाल हो गया। मामाजीने मृत्यु समयके पहिले इन दोनों भाइयोंको बुलाकर अपनी सम्पत्तिका मालिक बनाना चाहा। धर्मचन्द्रजी इससे सहमत नहीं थे; किन्तु उनके छोटे भाई बखतचद लोभमें आ गये और अपने साथ इनको भी ले लिया। मामाको ७१००) लोगोंसे कर्ज लेना था और करीब ३०००) लोगोको देना भी था, किन्तु लोगोंने कर्ज देना स्वीकार न किया और लेनेवाले आ उपस्थित हुए। तब इन्होंने अपनी पैतृक जमीन बेचकर मामाका कर्ज चुकाया। ऐसे ही समयमें इनका विवाह हुआ, जिससे यह और भी ऋणी हो गये। ऐसी अवस्था देखकर इन्होंने रुईवालोंके यहा नौकरी करना आरंभ की। परन्तु यह नौकरी भी फसलके समय ही मिलती थी, बादमें इनको बेकार ही बैठा रहना पड़ता था। इस प्रकार इन्होंने यह समय बड़ी कठिनतासे व्यतीत किया।

स० १९२९ की सालमे भट्टारक गुणचन्द्रजी ९० गृहस्थोंका सघ लेकर शिखरजीकी यात्राके लिये निकले । उस समये इनके पिताकी धर्मभगिनी श्रीमती रतनबाई इनको भी अपने साथ यात्राके लिये ले गई । उस समय इनकी अवस्था केवल २१ वर्षकी थी ।

स० १९३२ मे महुआके प० शिवलालजीका इनसे साक्षात हुआ । धर्मचन्द्रजीने इनसे कहा कि हम बडे मूर्ख है, किसी प्रकार धार्मिक ज्ञान प्राप्त करनेका उपाय बताइये । तब पडितजीने चौवीसठाणा इनको बडी मुश्किल पढाया ।

इसके बाद इन्होंने अकलेश्वर ग्रामके निकट सजोद ग्राममे १०) की पूजीसे एक दूकान खोली । इनको गाने बजाने आदिका भी बहुत शौक था इस कारण वह प्रात कालका समय देवपूजा करके आनदके साथ व्यतीत करते थे ।

अब इनके भाग्यचक्रने पल्टा खाया और स० १९३९ की सालमे पडित महाचन्द्रजीसे परिचय हुआ । इस समय अकलेश्वरमे १५ दिवस तक नगरके बाहर पूजन पाठ हुआ था जिसमे बडा आनद रहा । प० महाचन्द्रजी ज्योतिष शास्त्रके जानकार थे इससे धर्मचन्द्रजीने इनसे अपनी सोचनीय अवस्थाका वर्णन किया । तब पडितजीने इनको एक रस छोड कर भोजन करनेकी प्रतिज्ञा कराई । उसी वर्ष इनको दूकानमे दो सौ रुपयाका मुनाफा हुआ ।

बम्बईके दानवीर सेठ माणिकचन्द्रजी सूरतमे त्रिलोकसारका पूजन देखनेके लिये आये थे । उसी समय धर्मचन्द्रजीका सेठजीसे

परिचय हुआ। कुछ दिन बाद सोनवाले सेठ माणिकचंद लाभचंदके भागमे चन्द्रप्रभुके मन्दिरका जीर्णोद्धार कराके उसकी प्रतिष्ठा करानेके लिये फिर सेठ माणिकचंदजी सूरत आये, प्रतिष्ठा देखनेके लिये धर्मचन्द्रजी भी आए थे। इस बार धर्मचन्द्रजीने सेठजीसे कहा कि यदि आप हमारा सूरतमे निर्वाह होनेका उपाय बतावे तो बहुत उत्तम हो। सेठजीने कहा कि देखा जायगा।

कुछ दिनके बाद सेठ माणिकचन्द्रजी पालीताना यात्राके लिये गये। वहा भावनगरके सेठ पालीतानाके प्रबन्धके लिये एक श्वेताम्बर मुनीम रखनेका विचार कर रहे थे। तब सेठजीने कहा कि हम मुनीम बतलाते हैं, आप अकलेश्वर ताल्लुका साजोदके धर्मचद हरजीवनदासको लिखो। तब पचोंने धर्मचन्द्रजीके नाम एक पत्र लिखा। पत्रके नीचे सेठ माणिकचन्द्रजीने भी यह लिख दिया था कि तुम शीघ्र आकर पालीतानाका कारखाना संभालो।

इस पत्रको पाकर इनको बहुत आनद हुआ। सं० १९४२ पूष मासमें भावनगर होकर यह पालीताना आ गये और सर्व कार्य संभाल लिया।

उस समय पालीतानामें कोई मन्दिर या धर्मशाला नहीं थी। केवल एक छोटेसे स्थानपर पार्श्वनाथजीकी प्रतिमा थी। उसी जगह यह भी रहा करते थे। दो तीन मास वहा रहकर धर्मचदजी अपने ग्राम आए और दूकानका सब माल बेचकर अपनी स्त्री और अपनी एक कन्याको लेकर पालीताना आ गये।

यहांपर पं० शिवलालजीका देवलोक हो जानेसे उनकी जायदाद पालीतानाके दरबारने ले ली। पंच लोगोंके कहने पर

दरबारने रोकड़ा २५००) रुपये रखकर चांदीके उपकरण आदि दे दिये। दरबारने यहां दिगम्बर यात्रियोंके ठहरनेका कोई सुभीता न देखकर उस ढाई हजार रुपयेसे प० शिवलालजीके नामकी धर्म-शाला बनवा दी। उसके बाद और मंदिर आदि बने।

धर्मचंदजीके चार कन्या और एक पुत्र हुआ-बड़ी कन्याके दो पुत्र अब भी अंकलेश्वरमें हैं। बाक़ी सब सन्तानोंका देहान्त हो गया। फिर केवल दोनों स्त्री पुरुष ही रह गये।

सं० १९६३ की सालमें आप बहुत बीमार हो गये उस समय इनके जीवित रहनेकी कोई आशा नहीं थी। पालीतानासे उनको अंकलेश्वर लाया गया, वहां तीन मास तक बीमार रहे। इनका आयु कर्म बाकी था इसलिये फिर निरोग हो गये।

स्वस्थ हो जानेके बाद यह अपनी मानजी ललिताबाईको साथ लेकर जूनागढ़की यात्राके लिये गये और वहांसे पालीताना वापस आए। यहां आकर चौबीसठाणाकी गाथाओं और अन्य धर्मकी बातोंका ज्ञान ललिता और अन्य तीन श्वेताम्बर लड़कोंको भलीप्रकार कराया। उन लड़कोंमेंसे एक लड़केका देहान्त हो गया दूसरा व्यापार करता है, यह अब भी शास्त्र स्वाध्यायके लिये दि० मंदिरमें आता है। तीसरा लड़का जिसका नाम आन-दजी है, यह भी आपके निकट छककेका कार्य करता है। यह दोनों लड़के धर्मचंदजीका बहुत उपकार मानते हैं।

सं० १९६४ की सालसे आपने एक सालके वेतनके सिवाय एक मासका और वेतन ले लिया। आपको सेठजीने केवल २००) साल देना कहकर ही भेजा था। उसके थोड़े ही दिन बाद आप

अंकलेश्वर आये । यहा सेठ माणिकचंदजीका सूरतमें आना सुनकर सेठजीसे मिलनेके लिये यह भी सूरत आये । सेठजीसे बातें करते २ आपने एक अधिक मासके वेतन लेनेका भी जिक्र किया और पूछा कि हमको अधिक मासके वेतन लेनेका हक है या नहीं ? सेठजीने कहा कि हम माह सु० ९ को पालीताना आयेंगे वहां सब खुलासा हो जायगा । इस प्रकार सेठजीसे मिलकर वह अंकलेश्वर वापस चले गये ।

जब आप अंकलेश्वरसे पालीताना जा रहे थे तब अहमदाबादकी स्टेशन पर गाडीमे देर होनेके कारण ठहर गये । अपनी स्त्रीको एक तरफ बैठा कर यह शौचके लिये खुले मैदानकी ओर चले गये । जब उधरसे लौट रहे थे तब एक आदमी सडकपर सोनेका एक पासाके फेंककर इनके साथ बातचीत करने लगा । इतनेमें एक दूसरा आदमी भी आकर इनके साथ हो लिया । चलते २ वह सोनेका पासा उठाकर कहने लगा कि देखो किसीका यह पासा पडा है । इतना सुनकर दूसरा आदमी बोल उठा भाई ! इसमे हम तीनोंका हिस्सा बांटना पडेगा । इसी बीचमे एक और आदमी इनके पाससे रोता और चिल्लाता हुआ निकला कि अरे ! मेरा सोनेका पासा कही गिर गया, अब मैं क्या करूं । तब धर्मचन्द्रजीने उसको पुकार कर कहा कि यहा आ, तेरा सोनेका पासा हमारे साथके आदमीको मिला है । लेकिन वह खडा न रहा । तब इनके साथवाले एक आदमीने इनसे कहा उसको न पुकारो, हम तुमको अधिक हिस्सा देंगे । तब इन्होंने यह कह कर कि हमको

हरामका माल न चाहिये उस आदमीको फिर जोरसे पुकारा। इस बार वह उनके पास आ गया और इन्होंने उसका पासा उसे दिला दिया। फिर इनको स्टेशन पर आनेसे मालूम हुआ कि वह ठग थे इनको ठगना चाहते थे, वे सब इनके पासका जेवर रुपया ले लेने और पुलिसके हवाले करने।

उक्त बात धर्मचन्द्रजीने सेठ माणिकचन्दजीको बम्बई लिखी। सेठजीने उसके उत्तर में यह लिखा कि आपको सत्यका फल मिल गया। आपने अधिक मासके वेतन लेनेकी बात सच्चे हृदयसे कही थी। अगर आप उस बातको छिपाते तो अवश्य उन ठगों द्वारा ठगाये जाते।

माघ सुदी ५ को सेठ माणिकचन्दजी पालीताना आए। उस समय भावनगरके सेठ लोग भी वहां मौजूद थे। सेठजीने धर्म-चन्द्रजीको बुलाकर कहा कि, हम अधिकमासके वेतन लेनेकी बात और ठगोंके मिलनेका हाल सभामें प्रगट करेंगे। सभा होनेपर सेठजीने कहा कि धर्मचन्द्रजीको अधिक मासके वेतन लेनेका कोई हक नहीं है। तब भावनगरके पचोंने कहा कि क्या अधिक मासमें धर्मचन्द्रने उपवास किया होगा—कुछ खाया पिया न होगा। वेतन लेनेका इनको हक है। तब फिर सेठ माणिकचन्द्रजीने कहा कि नहीं इन्होंने एक सालका २५०) ही लेने स्वीकार किये हैं। इनको अधिक वेतन लेनेका हक नहीं है। इसलिये यह एक मासका वेतन वापस कर दे और आइन्दासे इनका वेतन २१) मासिक कर दिया जाय, जिससे अधिक मासके वेतन लेनेका भी हक हो जायगा। पचोंने सेठजीका यह कहना स्वीकार कर लिया। फिर सेठजीने

अहमदाबाद स्टेशनकी घटना कह सुनाई। तब इनकी सत्यताको सब लोगोंने सराहा और बहुत प्रसन्न हुए।

सं० १९५६ मे यह दोनो स्त्री पुरुष केसरियाजीकी यात्रा करके रतलाम वापस आए। वहासे अतरीक्ष पार्श्वनाथके दर्शन करके भोपाल होते हुए सोनागिर गये। वहा दो दिन रहकर लश्कर, ग्वालियर, होते हुए मथुरामे जम्बूस्वामीके दर्शन किये। वहांसे फिरोज़ाबादके रथोत्सवमे ८ दिन बडे आनदसे बिताए। वहांसे आगरा, अजमेर होते हुये पालीताना वापस आए। इस यात्रामें इनके १०९) रुपये खर्च हुए थे।

इसी वर्ष चैत्र मासमें सूरतके चन्द्रप्रभु स्वामीके मन्दिरका सेठ माणिकचन्द्रजीके भानजे चुन्नीलाल जवेरचद्रजीने जीर्णोद्धार कराया। पं० कालप्पा भरमाप्पा द्वारा उसकी प्रतिष्ठा कराई गई थी। उस समय सेठजीने इनको भी बुलाया था। उसी समय सूरतसे ३ मील रादेर ग्रामके मंदिरका भी जीर्णोद्धार होकर प्रतिष्ठा हुई। उसमें भी यह शामिल हुये। बडी प्रभावना और आनंद रहा था।

सं० १९५७ माह मासमे सेठ नाथारगजीने आकलूजमें पच कल्याणक प्रतिष्ठा कराई। इसी समय दि० जैन बम्बई प्रान्तिक सभाका अधिवेशन भी यहीं हुआ था। 'जैनमित्र' के सम्पादक स्याद्वादवारिधि वादिगजकेसरी प० गोपालदासजी, पं० पन्नालालजी, आदि बडे २ विद्वान भी आये थे। इस अवसरपर बम्बईके सेठ माणिकचन्द्रजीकी पुत्री श्रीमती मगनबाई भी आई थीं। इनके साथ हमारे चरित्रनायककी भानजी श्रीमती ललिताबाई भी थीं, जो श्रीमती मगनबाईके साथ रह कर परोप-

कार्य करनेमें निमग्न हैं। धर्मचंद्रजीने सबसे प्रथम श्रीमती मगन-बाईके उद्योगसे यहीं पर स्त्री-सभा की थी। इस उत्सवमें कई भजनमंडली भी आई थीं, जिससे उत्सवमें बड़ा आनन्द रहा था।

आष्टह्निक पूजन आदि समाप्त हो जानेके बाद यह ललिताबाईको साथ लेकर कुंथलगिरिकी यात्राके लिये गये। ब्र० पन्नालालजी और बंबईके सेठ लल्लूभाई लक्ष्मीचंदजीका साथ होनेसे अच्छा आनन्द रहा था। वहांसे पालीतानाके मन्दिरकी फरस बनवानेके लिये इन्होंने १००)का चन्दा भी किया। इस समय मन्दिरजीमें रंगका काम होता था, आपने भी २१) देकर मन्दिरजीके पदासण पर सोनेका काम कराया।

सं० १९६९में यह शिखरजीकी यात्राके लिये रवाना हुये। साथमें स्त्री और ललिताबाई थी। शिखरजीसे लौटते समय मुक्तागिरि मेंढा नदी, सिद्धवर कूट, बडवानी चूलगिरी, पावागढ़ आदिकी भी यात्रा की। तीन महीनेके बाद स्थान पर वापिस आए।

सं० १९७० माह मासमें मुम्बईके सेठ माणिकचन्दजीकी मातेश्वरी रूपाबाईने १२३४ उपवासोंके उद्यापनके अवसर पर इनको सस्त्रीक बम्बई बुलाया था। यह पौष वदी ११ को बम्बई पहुंच गये परन्तु दैववश दूसरे दिन ही—पौष वदी १२ को इनकी स्त्रीको प्लेग होगया और माह वदी ८ को उसका स्वर्गवास हो गया। माह वदी ९ को चौपाटीके मन्दिरमें कुम्भस्थापन और पूजनका मुहूर्त था। आठ दिन तक अच्छा उत्सव रहा था।

धर्मचन्द्रजीका कहना है कि जिस समय हमारी स्त्रीको प्लेग थी उस समय हमको बहुत दुःख था। बम्बईमें किसीके

विद्या पढ़ाने आदि कार्योंमें उसके कारण विघ्न आ जाता था। अब यह व्याधि मिट जानेसे अच्छी तरह धर्मसाधन होता है।

बम्बईसे आकर आपने भावनगरमें कर्म दहन पूजन-विधान कराके जाति भाइयोंको भोजन कराया।

एक बार इन्होने यह विचारकर कि काठियावाडमे जूठे खानपानका रिवाज बहुत है। एक ही वर्त्तनसे अनेक लोग पानी पीते हैं और फिर उसे ही मटकेके अन्दर डालकर अन्य लोग पानी पी लेते हे। इसके दूर करनेके लिये इन्होने बहुत प्रयत्न किया और कुछ द्रव्य भी खर्च किया परन्तु सफल मनोरथ न हुए।

भावनगरमें एक दिन आपने यह विचार कर कि इस हाडमासके बने हुए शरीरका कोई भरोसा नहीं है, अपने जीवनके बाद बचीहुई सम्पत्तिका इस प्रकार वसीयतनामा कर दिया—

जो कुछ जायदाद हमारी मृत्युके बाद बचे वह विद्यादान और उपदेशक विभागके ध्रुवफंडमें रखी जाय। जो मकान लगभग ७००) की लागतका अंकलेश्वरमें है, उसको अंकलेश्वरकी पाठशालाको प्रदान कर दिया, उसका किराया २९) वार्षिक इस समय आता है।

स्त्रीके मरनेके बाद आपने अंकलेश्वर काष्ठासंघ गच्छके मंदिरजीके जो ४०) पहिलेके बाकी चले आ रहे थे उनको भी दे दिया। इसी समय आपने काशीके स्याद्वाद महाविद्यालयके ध्रुव फंडमें भी १००) प्रदान किये।

आपने अपनी जिन्दगीका वीमा भी भरुचकी लाइफ इन्स्युरेन्स लिमिटेड कम्पनीमे कराया है। वीमाके प्रत्येक वर्ष ७॥) कम्पनीको देने पडते है। वीमा कराते समय इनकी स्त्री जीवित थी, इसकारण वीमा उसीके नाम कराया था और अब स्त्रीके स्वर्गवास हो जानेसे आपने इस शर्त्त पर भारतवर्षीय दि० जैन महासभाकी ओरसे श्रीमान सेठ मोहनलालजी खुरईको वीमाका मालिक बना दिया कि इससमय जैन विवाह पद्धतिसे व्याह करानेवाले लोग मिलते नहीं है इसलिये महासभा महाविद्यालय मथुरा और स्याद्वाद महाविद्यालय काशीमें विवाहपद्धतिके पढ़ानेका प्रवन्ध करदे। सेठ मोहनलालजीने इसे स्वीकार कर लिया। तथा ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीके एक पत्रसे यह भी मालूम हो गया कि जैन विवाह पद्धतिके सिखानेका कार्य चालू हो गया है। आप वीमा कम्पनीमे इससमय तक ११०)के लगभग दे चुके है।

पालीतानाके पर्वत पर जो मदिर बना है उसे जीर्ण देखकर धर्मचन्द्रजीने २९) चदेमे अपने देकर मरम्मतका कार्य चालू कर दिया फिर सवत् १९६१मे उज्जैनकी प्रतिष्ठामे गये. वहासे लौटते समय आपने मदिरजीके जीर्णोद्धारके लिये मऊ छावनी, इन्दौर, रतलाम, वडौदा, अकलेश्वर आदि स्थानोमे २००) का और चदा वसूल किया। इसी समय आपने पावागढकी यात्रा भी की।

स० १९६३ मे आरा निवासी बाबू देवकुमारजी और नेमीसागर वर्णीके मिल जानेसे अपनी भानजी ललिताबाईको साथ लेकर आपने गोम्मटस्वामी और मूडवद्रीकी यात्रा की। यहा,

पर एक जैनियोंकी सभा होनेवाली थी उसके कारण १८ दिन ठहरना पडा। सभामें कई उत्तम कार्य हुये। मूडबद्रीकी जैनपाठशालाके चन्देमें आपने भी ११) दिये थे। लौटते समय बाबू देवकुमारजीका साथ होनेसे मार्गमे इन लोगोंको लोग गाजे बाजेके साथ अपने २ ग्रामोमें ले जाते थे। धर्मचन्द्रजीका कहना है कि ऐसी यात्रा न किसीकी हुई और न होगी। बाबू देवकुमारजीके साथ उनकी भावज चदाबाई भी थी। उनको आपकी भानजी ललिताबाईने मूडबद्रीमें द्रव्यसग्रह अर्थ सहित पढ़ाई थी। वहासे सब लोग बेलगाम कोल्हापुर होते हुये बम्बई आए। यहा भी अनेक सभाए और जल्से हुए। बाबू देवकुमारजीके साथ कोल्हापुरकी बोर्डिग देखनेके लिये फिर गये। वहासे वापिस आकर सेठ माणिकचंदजी और बाबू देवकुमारजीके साथ आप जबलपुर बोर्डिगके वार्षिक उत्सवमें गये। वहासे बाबू देवकुमारजी आरा चले गये और यह पालीताना लौट आए।

सं० १९६६ की सालमे अंतरीक्ष पार्श्वनाथ रक्षा फंडके लिये गुजरात प्रान्तमे आप चन्दा कराने गये थे। लगभग ५००) चंदेमें आया था।

सं० १९६७ में सेठ माणिकचंदजीके भानजे सेठ चुन्नीलाल हेमचंद और एक बाईने मिलकर पावागढके दो मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया। उस समय वहां बम्बई दि० जैन प्रान्तिक सभाका जल्स भी हुआ था। सभामें हम भी गये थे, अच्छा आनंद रहता था सभामें उपदेशकफंडके लिये चंदा हुआ, उसमें आपने भी ६१ दिए थे तथा जयपुर जैन शिक्षा समितिमें भी ५) दिये।

इसके बाद आपके जीवनमें कोई उल्लेख योग्य घटना नहीं हुई। आप शान्तिके साथ कोठीका प्रबन्ध करते हुए धर्मध्यानमें समय बिताते रहे। परन्तु अभी थोड़े दिनसे आपको असाता कर्मोंके उदयके कारण फालिज (लकवा) का रोग हो गया है, जबसे आप इस बीमारीसे ग्रसित हुए तबसे अंकलेश्वर ही में निवास कर रहे हैं। पार्लतानाका कार्य भी आपने जबसे बीमार हुए छोड़ दिया है। आप शीघ्र इस रोगसे शीघ्र मुक्त हों यही हमारी जिनेन्द्र देवसे प्रार्थना है।

मूलचन्द किसनदास कापड़िया।

ॐ शान्ति ॐ शान्ति ॐ शान्तिः





श्रीयुत धर्मचंद हरजीवनदासजी.
पालीताणा दिगंबर जैन कोठीके वयोवृद्ध मुनीम.

"जैनविजय" प्रेस-सूरत।



नमः सिद्धेभ्यः ।

धर्मचर्चासंग्रह ।

चौवीस ठाणेकी गाथा ।

गइ इंदिये च काये । जोगे वेये कसाय णाणे य ॥
संजम दंसण लेस्सा । भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥ १ ॥

गइ अर्थात् गति मार्गणा ४ प्रकार—नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, और देव गति ।

अर्थ—एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें जानेका नाम गति है । संसारी जीवोंकी सर्व पर्यायोंके मोटे रूपसे चार विभाग किये गये हैं—मनुष्य गति, नरक गति, तिर्यंच गति, और देव गति, यही चारों गतिया कहलाती हैं । नरकमें रहनेवाले नारकी हैं, स्वर्गमें रहने वाले देव है । नारकी, देव, और मनुष्यके सिवाय जितने संसारी जीव हैं वे सब तिर्यंच कहलाते हैं ।

इंदि अर्थात् इंद्रियां पांच होती है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, यह पांच इंद्रियाँ हैं । एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, ते इंद्रिय, चो इंद्रिय और पंचेंद्रियके भेदसे भी इंद्रिय मा-

प्रकार हिलानेसे। मन वचन और कायके विस्तार रूपसे योग मार्गणाके पंद्रह भेद हैं।

वेये अर्थात् वेद मार्गणा ३ प्रकार—पुरुषवेद, स्त्रीवेद, और नपुंसकवेद। **अर्थ**—जिसके उदयसे मैथुन करनेकी इच्छा होती है उसको वेद कहते हैं। पुरुष वेदके उदयसे स्त्रीसे रमनेकी, स्त्रीवेदके उदयसे पुरुषके साथ रमनेकी और नपुंसकवेदके उदयसे पुरुष स्त्री दोनोंसे रमनेरूप युगपत इच्छा होती है। देवोंमे स्त्री और पुरुष दो ही वेद होते हैं, मनुष्यों और पंचेन्द्री सैनी पशुओंमें तीनों वेद (लिंग) होते हैं और असैनी पंचेंद्री तथा चौइन्द्री, तेइन्द्री, वेइन्द्री, इकेन्द्रिय और नारकी ये नपुंसक होते हैं।

कसाय अर्थात् कषाय मार्गणा २५ प्रकार—

अनंतानुबंधी क्रोध पाषाण रेखावत, अनंतानुबंधीमान पाषाण स्थंभवत, अनंतानुबंधीमाया वंश जालवत, अनंतानुबंधी लोभ लाख रंगवत, अप्रत्याख्यान क्रोध पृथ्वीमें हल रेखावत, अप्रत्याख्यान मान अस्थि स्थंभवत, अप्रत्याख्यान माया अजा शृंगवत, अप्रत्याख्यान लोभ मजीठा रंगवत, प्रत्याख्यान क्रोध वालुरेखावत, प्रत्याख्यान मान एरंड जड़वत, प्रत्याख्यान माया गौमूत्रवत, प्रत्याख्यान लोभ कुसुम रंगवत, संज्वलन क्रोध पानी रेखावत, संज्वलन मान वेत्र (वेतकी लकड़ी) वत, संज्वलन माया चंवरवत, संज्वलन लोभ हल्दीके रंगवत, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद।

ऊपर कही हुई जो चार चौकड़ी अर्थात् १६ और नव नोकषाय उनका भिन्न भिन्न अर्थ-

जिसके उदयसे अनत संसार बंधे उसको अनंतानुबंधी पापकर्म कहते हैं। उसीके क्रोध मान माया और लोभ ये चार भेद हैं। जो यावज्जीवन कायम रहे और सम्यक्तको न होने दे, अंतमें नरक पहुंचा वे वह क्रोध पर्वतकी रेखावत होता है, मान पाषाणके स्तंभ जैसा है, माया वंशकी मूल जैसी है और लोभ कृमीके रंग जैसा है।

दूसरी चौकड़ीका अर्थ—जिसके उदयसे कम याने थोडा प्रत्याख्यान (श्रावकका व्रत) भी न होवे उसको अप्रत्याख्यानावरणी पापकर्म कहते है। और उसके क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार भेद हैं और वे एक वर्ष तक कायम रहते हैं और अतमें तिर्यंच गतिकी प्राप्ति कराते हैं वह क्रोध सूखे हुए तालावकी रेखा जैसा है, मान हड्डीके स्थंभ जैसा है, माया मेंढाके शींग जैसी है। और लोभ कर्दमके रंग जैसा है।

तीसरी चौकड़ीका अर्थ—जिसके उदयसे सर्व विरतिरूप प्रत्याख्यान (मुनिव्रतका) अच्छादन हो उसको प्रत्याख्यानीय पाप कर्म कहते है और उसके क्रोध-मान-माया-लोभ, ऐसे चार भेद है। यह चार मास तक कायम रहते और अंतमे मनुष्यत्व गतिको प्राप्त कराते है। यह क्रोध वालु याने रेतीकी रेखा जैसा है मान काष्ठका स्थंभ जैसा है। माया वृषभके मूत्रकी रेखा जैसी है और लोभ जलके रग जैसा है।

चौथी चौकड़ीका अर्थ—जिसके उदयसे यथाख्यात चारित्रमें धारण नहीं कर सके उसको संज्वलन पापकर्म कहते है उसके क्रोध मान माया और लोभ ऐसे चार भेद हैं। यह पंदरह दिनमें कायम रहते हैं। यथाख्यात चारित्रका आवरण करे।

प्राप्ति कराते हैं । यह क्रोध पानीकी रेखा जैसा है । मान वेत्र (वेत) के स्थंभ जैसा है, माया **वंशकी छाल जैसी** है और लोभ हल्दीके रंग जैसा है, ऐसी रीतिसे चार चार भेद करके सोलह कषायका वर्णन किया ।

नव नो कषायका अर्थ—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद ।

विस्तारसे पृथक् पृथक् अर्थ—जिसके उदयसे हंसी (निंदावाचक) होवे सो हास्य मोहनीय कहलाता है ।

रति—जिसके उदयसे शब्दरूप इत्यादि मनोहर पदार्थोंमें राग हो ।

अरति—जिसके उदयसे शब्द रूपादि पदार्थोंमें उद्वेग हो ।

शोक—जिससे इष्टका वियोग इत्यादि दुःख हो ।

भय—जिससे जीवको भय उत्पन्न हो ।

जुगुप्सा—जिससे बीभत्स वस्तु देखनेसे ग्लानि हो ।

पुरुषवेद—जिससे स्त्रीके प्रति अभिलाषा हो । वह घासकी दाहवत् होता है ।

स्त्रीवेद—जिससे पुरुषके प्रति अभिलाषा हो वह कोयलेकी अग्निवत् है ।

नपुंसकवेद—जिससे पुरुष और स्त्री दोनोंके प्रति मैथुनकी अभि[illegible] वह नगरके दाहकी अग्नि जैसा है ।

[illegible] प्रीतिः विनाशः स्यान्मानाद्विनयसंहति ।
[illegible]याः प्रत्ययोहानिर्लोभात् सर्वगुणक्षय. ॥

[illegible]र्थ—क्रोधसे प्रीतिका विनाश होता है, मानसे विनयका

ज्ञान होता है । इन्द्रियोंके सहारे बिना आत्मिकशक्तिसे रूपी पदार्थ अर्थात् पुद्गल पदार्थके जाननेको अवधिज्ञान कहते है । देव नारकी और तीर्थंकर भगवानको यह ज्ञान जन्मसे ही होता है, इस कारण इन तीनोंके अवधिज्ञानको भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते है । मन सहित पंचेन्द्रिय जीवको जिस किसी कारणसे (तपसे) यदि अवधिज्ञान प्राप्त हो तो उसको गुण प्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं । किसी मनुष्यने जो कुछ अपने मनमें चिंतवन किया था और चिंतवन कर रहा है अथवा आगामीका चिंतवन करेगा उसका जानना मनःपर्यय ज्ञान है । छठे गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक मुनिको यह मनःपर्ययज्ञान होता है । लोक अलोककी भूत भविष्यत और वर्तमान सर्व वस्तुओको और सर्व वस्तुओंके सर्व गुण पर्यायको जानना केवलज्ञान है, केवलज्ञानमें कोई वस्तु जानना बाकी नहीं रहती है । अवधि मन पर्यय और केवल यह तीन ज्ञान इंद्रियोंके सहारे बिना आत्मिक शक्तिसे जीवमें साक्षातरूप होते हैं। इस हेतु इनको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं परंतु मति और श्रुत यह दो ज्ञान इंद्रियोंके द्वारा होते हैं । इस कारण परोक्ष कहलाते हैं। मति ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं ।

संजम अर्थात संयम मार्गणा सात प्रकार है– सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यान, संयमासंयम और असंयम । **संयम**–सम्यक् प्रकार यम नियम पालनेको संयम कहते हैं । अहिंसा आदिक व्रतोंका पालना, क्रोधादिक कषायोंका निग्रह करना, मन वचन कायकी अशुभ प्रवृत्तिको रोकना और इन्द्रियोंको वशमें करना संयम है ।

लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, पीत लेश्या, पद्म लेश्या, और शुक्ल लेश्या।

कषाय सहित योगका होना अर्थात् कषाय सहित मन वचन व कायकी प्रवृत्ति होना सो लेश्या है। लेश्यासे कर्मका बंध होता है। कर्म दो प्रकारके हैं—पाप और पुण्य। इसी प्रकार लेश्या भी दो प्रकारकी हैं—शुभ और अशुभ। शुभ लेश्यासे पुण्य बंध होता है और अशुभसे पाप। शुभ और अशुभ दोनों प्रकारकी लेश्याके तीन तीन भाग किये गये हैं।

(१) अत्यन्त अशुभको कृष्ण लेश्या कहते है।
(२) मध्यम अशुभको नील लेश्या कहते हैं।
(३) जघन्य अशुभको कापोत लेश्या कहते हैं।
(४) जघन्य शुभको पीत लेश्या कहते हैं।
(५) मध्यम शुभको पद्म लेश्या कहते है।
(६) उत्कृष्ट शुभको शुक्ल लेश्या कहलाते हैं।

इन्हीं षट् लेश्याका भाव निम्न श्लोकोंसे कहते हैं—

कृष्ण लेश्या।

आर्तरौद्रसदाक्रोधी, मत्सरो धर्मवर्जितः।
निर्दयो वैरसंयुक्तो, कृष्णलेश्याधिको नरः॥

अर्थ—जो रागी हो, घातकी हो, हमेशा क्रोधमें रहे, ईर्षा करे, धर्म तज देवे, दया नहीं पाले, वैरमें धुंधवाया करे, उसके कृष्ण लेश्या होती है।

शुक्ललेश्या ।

रागद्वेषविनिर्मुक्तो, शोकनिंदाविवर्जितः ।
परात्मभावसंपन्न, शुक्ललेश्याधिको नरः ॥

अर्थ—जो रागद्वेषसे मुक्त हैं, जो शोक और उग्र तजते हैं, अपने ऐसा परको समझते है ऐसी रीतिसे जो रहते हैं, उनके शुक्ललेश्या होती है।

पहली तीन लेश्यासे मनुष्य नर और तिर्यंच गतिमें जाना होता है।

पिछली तीनसे मनुष्य तथा देव गतिमें जाते हैं। इस प्रकार लेश्या छ प्रकार हैं।

भविया अर्थात् भव्य मार्गणा दो प्रकार—भव्य और अभव्य। **अर्थ**—भव्यत्व जीव दो प्रकारके हैं। जो किसी कालमे सम्यक् दर्शनादि भाव रूप होंगे अर्थात् जो मोक्ष जानेकी योग्यता रखते हैं वे भव्य हैं। और जिनको कभी मोक्ष प्राप्त नही होगा अर्थात् जिनमें किसी कालमें भी सम्यग्दर्शनादिके प्राप्त होनेकी योग्यता नही हो सक्ती है वे अभव्य हैं।

सम्मत्त अर्थात् सम्यक्त्व मार्गणा ६ प्रकार—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, वेदक और क्षायक।

सम्यक्त तत्वार्थ श्रद्धानको कहते हैं। मोटे रूप कथनसे अपने और परायेकी पहचान होकर अपनी आत्माका सच्चा श्रद्धान हो जाना सम्यक्त है। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तथा मिथ्यादृष्टि, सासादन, और मिश्र, इन तीन विपक्ष भेदों सहित सम्यक्त मार्गणा ६ प्रकार है। **भावार्थ**—बीमारीके दूर

होनेकी तीन अवस्थायें होती हैं। एक बीमारीका प्रगट रूप हट जाना परन्तु बीमारीके कारणोंका शरीरमें बना रहना। जैसे ज्वर उतर गया है परन्तु ज्वरका कारण नहीं हटा, इस कारण फिर चढेगा इसको **उपशम** कहते हैं। दूसरे बीमारीका कुछ कम हो जाना उसके कारणका कुछ नष्ट हो जाना और कुछ बना रहना इसको **क्षयोपशम** कहते हैं। तीसरे बीमारीके कारणका बिल्कुल दूर हो जाना इसको क्षय कहते हैं। इसी प्रकार मिथ्यात्व भी एक बीमारी है, जिसका दूर होना अर्थात् सम्यक दर्शन भी तीन प्रकारका है। मिथ्यात्वका उपशम होकर सम्यक्त होना उपशम सम्यक्त है और मिथ्यात्वके क्षय होनेसे सम्यक्तका होना सो क्षायक सम्यक्त कहलाता है और क्षायोपशम सम्यक्तका वर्णन ऊपर हो ही चुका है। उपशम सम्यक्तसे न मुक्ति हो सकती है और न इस सम्यक्तसे क्षायक सम्यक्त होता है। उपशम सम्यक्त तो मिथ्यात्वके दबनेसे हुवा है। इसमे मिथ्यात्व दबा हुवा है इस कारणसे वह (मिथ्यात्व) कभी (अंतर्मुहूर्तमें) उभर कर अवश्य उपशम सम्यक्तको बिगाड सकता है।

उपशम सम्यक्तके दो भेद हैं। मिथ्यात्व अवस्थासे जो उपशम सम्यक्त होता है उसको प्रथमोपशम सम्यक्त कहते हैं और वह अन्तर्मुहूर्त रहता है। अन्तर्मुहूर्तके पीछे या तो मिथ्यात्वी हो जावेगा या क्षायोपशमिक अर्थात् वेदक सम्यक्त हो जावेगा। उस सातवें गुणस्थानी महा मुनिके जिसके क्षायोपशमिक सम्यक्त हो उसको यदि क्षायोपशमिक सम्यक्तसे औपशमिक सम्यक्त हो जावे तो उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त कहते हैं। और ऐसा

सम्यक्ती ग्यारहवें गुणस्थान तक जा सक्ता है परन्तु आगे उन्नति नहीं कर सक्ता है—वह अवश्य नीचे गिरता है। क्षायक सम्यक्त प्राप्त होने पर फिर नहीं छूटता है और वह अधिकसे अधिक चौथा भव धारण करके मोक्ष, प्राप्त कर लेता है। इसमें प्रथम क्षायोपशमिक सम्यक्त होकर फिर क्षायक सम्यक्त होता है परन्तु क्षायक सम्यक्त प्राप्ति होनेका प्रारंभ केवली भगवान वा श्रुत केवलीके निकट ही हो सकता हैं अन्यथा नहीं। यह नियम प्रारंभ करनेका ही है। क्षायक सम्यक्तकी प्राप्ति चाहे अन्य भवमें हो तथा तब केवल भगवान मिलें वा न मिलें।

सण्णि अर्थात् संज्ञी मार्गणा दो प्रकार—संज्ञी (मनसहित) और और असंज्ञी (मनरहित)।

आहारे अर्थात् आहार मार्गणा दो प्रकार—आहारक और अनाहारक।

आहारक तीन शरीर (कार्माण—तैजस—वैक्रियिक) और ६ पर्याप्तिके योग्य पुद्गल परमाणुओंके ग्रहण करनेका नाम आहार है। आहारक और अनाहारकके भेदसे आहार मार्गणा भी दो प्रकार है। मरनेके पश्चात् विग्रह गतिमें एक दो वा तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है। केवल समुद्घातमें अनाहारक होता है और सिद्ध भगवान अनाहारक हैं अन्य सर्व अवस्थामें जीव आहारक ही रहता है।

दूसरी गाथा।

गुण जीवा पज्जत्ती। पाण सण्णा य मग्गणा ओव।
उवओगोविय कमसो वीसन्तु परूवणा भणिया॥

गुण अर्थात् गुणस्थानके १४ भेद—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली।

मिथ्यात्व—सम्यक्त्वके न होनेको मिथ्यात्व कहते हैं। विपरीत श्रद्धानका नाम मिथ्यात्व है।

सासादन—कोई जीव सम्यक्तको प्राप्त हो कर फिर भ्रष्ट हो जावे अर्थात् मिथ्यात्वके सन्मुख हो जावे ऐसी अवस्थामें सम्यक्तसे गिर कर जब तक वह जीव मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं हुवा तब तक जो बीचके समयकी दशा है उसको सासादन कहते हैं।

मिश्र—सम्यक्त और मिथ्यात्व दोनोंके मिलनेसे जो एक विलक्षण भाव उत्पन्न हो।

अविरत—सम्यक्त उत्पन्न हो जावे परन्तु किसी प्रकारका व्रत वा चारित्र धारण न करे।

देशविरत—सम्यक्त सहित एक देश चारित्र पालना। जो सम्यक्ती किंचित् त्यागी है उसको गृहस्थी श्रावक कहते हैं। उसकी ११ प्रतिमा अर्थात् दर्जे हैं।

प्रमत्त—जो हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्म याने कुशील और परिग्रह इन पांच पापोंके त्यागरूप पंच महाव्रतोंको पालता है, परन्तु प्रमाद उसके विद्यमान है वह प्रमत्तसयंत गुणस्थानवर्ती कहलाता है।

अप्रमत्त—जो प्रमाद रहित होकर पांच महाव्रतोंको पालता है।

अपूर्वकरण—सातवें गुणस्थानसे भी ऊपर अपनी विशुद्धतामें अपूर्व रूप उन्नति करता है जिसे पहिले कभी नहीं की थी।

अनिवृत्तिकरण—आठवें गुणस्थानसे भी अधिक उन्नति करता है।

सूक्ष्मसांपराय—जहां कषाय उपशम वा क्षयको प्राप्त होकर, केवल एक लोभ कषाय सूक्ष्म रूपसे बाकी रह जाती है उस गुणस्थानका नाम सूक्ष्मसाम्पराय है।

उपशांतकषाय—जिसकी कषाय किंचित् मात्र भी उदयमें नहीं है सब उपशम हो गई है अर्थात् दब गई है वह उपशांत मोह गुणस्थानवर्ती कहलाता है। इस गुणस्थानसे जीव फिर नीचे गिरता है क्योंकि कषाय जो सत्तामें विद्यमान थी उनका उदय हो आता है।

क्षीण कषाय—जहां कषाय बिल्कुल क्षीणता अर्थात् नाशको प्राप्त हो जाती है वह क्षीण मोह गुणस्थान है।

सयोग केवली—जिसको केवलज्ञान प्राप्त हो गया है परन्तु योगकी प्रवृत्ति होती है वह तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव है इस ही दशामे भगवानकी वाणी खिरती है जिससे धर्म उपदेश चलता है।

अयोग केवली—केवलज्ञान होनेके पश्चात जब मन वचन-काय रूप योगकी प्रवृत्ति भी दूर हो जाती है तब जीव अयोग केवली जिन कहलाता है इसके अनन्तर ही सिद्ध पदकी प्राप्ति होती है।

जीवा अर्थात् जीव समासके १९ प्रकार—पृथ्वी-

शरीरपर्याप्तिका अर्थ—उस रस रूप परिणमे हुए द्रव्यको रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य यह सात धातु रूप परिणमन कराने—शरीर बांधनेकी जो शक्तिविशेष उसको शरीरपर्याप्ति कहते हैं ।

इंद्रिय पर्याप्तिका अर्थ—उन सात धातु रूप परिणतोंमे जिसको जितनी द्रव्य इंद्रिय चाहिये उनको उतने इंद्रिय रूपमें लाने वाली शक्तिविशेषको इंद्रियपर्याप्ति कहते हैं ।

विशेष—पर्याप्ति यह शब्द सर्वके साथ जोडना क्योंकि ऊपर कही हुई तीन पर्याप्ति पूरी किये बिना कोई भी जीव मरणको प्राप्त नहीं होता इसलिये पर्याप्ति शब्द बीचमें कहा है ।

श्वासोच्छ्वासपर्याप्तिका अर्थ—उपर्युक्त तीन पर्याप्ति बांधनेके पश्चात् श्वासोच्छ्वास योग्य वर्गणाओंको श्वासोच्छ्वास रूप परिणमावनेवाली जो शक्तिविशेष उसको श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं ।

भाषा पर्याप्तिका अर्थ—भाषा योग्य पुद्गल लेकर भाषारूप परिणमावनेकी शक्तिविशेषको भाषापर्याप्ति कहते हैं ।

मनपर्याप्तिका अर्थ—मनोवर्गणा योग्य पुद्गल लेकर मनरूप परिणमावनेकी जो शक्तिविशेष उसको मनः पर्याप्ति कहते हैं।

एकेंद्रियके निम्नलिखित चार पर्याप्ति होती हैं—आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इंद्रिय पर्याप्ति, और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ।

ऊपर कही हुई चार पर्याप्तियोंके साथ भाषा वा मन पर्याप्ति जोड़नेसे पांच पर्याप्ति विकलेंद्रिय अर्थात् बेंद्रिय तेंद्रिय और चोइंद्रियके होती हैं ये ही पांच पर्याप्ति असैनी पंचेंद्रीके भी होती हैं और छः पर्याप्ति सैनी पंचेंद्रियके होती हैं।

प्रश्न—यहां कोई पूछे कि प्राण और पर्याप्तिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—जो प्राण हैं उनका शरीर संबंधी स्वोपग्राही आत्म-संबंध है और पर्याप्ति ये परिणमन निवर्तन लक्षण है। जैसे दूधमें श्वेतता और स्निग्धता होती ही है ऐसा जानना।

शंका—तुम प्रथम तो आहारपर्याप्ति कहते हो और पीछेसे शरीरपर्याप्ति कहते हो तो बिना शरीरके आहार किस तरह लिया जाय?

समाधान—जो कार्माण और तैजस ये दो शरीर तथा आयु स्वरूप एक प्राण ये जन्मसे जीवके सहचारी हैं इसलिये इन शरीरोंके आधारसे आहार पर्याप्ति प्रथम कही और इसके बाद औदारिक अथवा वैक्रियक भव धारण करके शरीर पर्याप्ति धारण करता है।

पांच इंद्रियोंके तेईस विषय—त्वचा (स्पर्श) अर्थात् जो वस्तुको छू कर ठंढा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम (नरम) और कठोर अर्थात् कडा-भारी और हल्का इस प्रकार आठ विषय स्पर्शनेन्द्रियके जानना। **रसना** (जिह्वा) अर्थात् जो चखकर चरपरा, कडुवा, कषायला, खट्टा, और मीठा--पहचाने—इस प्रकार पांच विषय रसनेन्द्रियके जानना। **घ्राणेंद्रिय** (नासिका) अर्थात् जो नाकसे सूंघकर सुगंध और दुर्गंधको पहचाने, ये दो विषय घ्राणेंद्रियके जानना।

चक्षुइंद्रिय—काला, सफेद, पीला, लाल, और हरा ये पांच विषय चक्षु इंद्रियके जानना ।

श्रोत्र इंद्रिय—जीवके शब्द याने मनुष्य आदिके अजीवके शब्द याने वादित्र आदिके इन दोनोंके मिलनेसे जो शब्द याने आवाज हो वह मिश्र, ये तीन विषय श्रोत्रेंद्रियके हैं ।

विशेष—अन्य इन्द्रीं अन्य इन्द्रियोंके विषयको नहीं जान सकी हैं। ऊपर कही जो पांच इंद्रिया उनके विषय २३ हैं उनका ज्ञान मन सहित जीवको जिस इन्द्रीका विषय हो उन ही द्वारा जाना जाता है । जीवके व्यापारके बिना सर्व इन्द्रियां जडरूप हैं इसलिये विषयको नहीं पहचानता ।

पाणा अर्थात् प्राण दश प्रकार—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वचन, काय, श्वासोश्वास, और आयु ।

जीवोंके अनुसार प्राण—(सवैया ३१सा) एक इंद्रिके चार प्राण स्पर्श काया आयु जान, श्वासोश्वास ये पहचान वे इंद्रि छः जाणिये। रसना वचन बधे ते इन्द्रियके नाक बधे सत प्राण जान सधे चोइंद्रिय कहानिये। अष्ट प्राण याहि मान चक्षु इंद्रियको बखान असैनी पचेंद्रिय कान नव प्राण मानिए। जाको मन प्राण होय दश प्राण धारी सोय स्थावर त्रस होय शास्त्रमें बखानिये ।

बल तीन प्रकार—मनबल, वचनबल, और कायबल। एकेंद्रिय जीवमें चार प्राण हैं । स्पर्शन, इंद्रिय, आयु, कायबल और श्वासोश्वास । दो इंद्रियमें रसना इंद्रिय और वचन मिलकर छः प्राण हैं। ते इंद्रियमें नासिका इंद्रिय बढ़कर सात प्राण हैं। चौ इंद्रियमें चक्षु इंद्रिय बढ़कर आठ प्राण हो जाते हैं । पंचें-

ध्यानानि च अर्थात् ध्यान चार प्रकार—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ।

आर्तध्यानके चार भेद—इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, चिन्तवन और निदान बंध ।

इष्ट वियोग—प्रिय और सुखकारी वस्तुके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिके लिये बारम्बार विचार करना । **अनिष्ट संयोग**—अनिष्ट अर्थात् अप्रिय और दुखदाई वस्तुका संयोग होनेपर उसके दूर करनेके लिये बारम्बार चिन्तवन करना । **पीड़ा चिन्तवन**—रोग जनित पीडाका चिन्तवन करना अर्थात् सोच करना, अधीर होना आदि । **निदान बंध**—आगामी विषय भोग आदिकी वाञ्छा करना और उसीके विचारमें लीन हो जाना । इन चार प्रकारके आर्तध्यानोंमेंसे पहले तीन प्रकारके आर्तध्यान तो १—२—३—४—५ और छठे गुणस्थान तक हो सकते हैं परन्तु निदान आर्तध्यान छठे गुणस्थानमें नहीं हो सक्ता है, पांच गुणस्थान तक ही हो सक्ता है । आर्तध्यान खोटा ध्यान है इसको नहीं करना चाहिये ।

रौद्रध्यानके चार भेद—हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और परिग्रहानन्द । **हिंसानन्द**—हिंसा करके आनंद मानना और हिंसाका चिन्तवन करते रहना । **मृषानन्द**—झूंठ बोलनेमें आनन्द मानना और झूंठ ही का चिन्तवन करते रहना । **स्तेयानन्द**—चोरीमें आनन्द मानना और उसीका चिन्तवन करते रहना । **परिग्रहानन्द**—परिग्रह और अपनी विषय सामग्रीकी रक्षा करनेमें आनन्द मानना और उसीकी चिन्तामें लगे रहना । रौद्र ध्यान

१-२-३-४ और पांचवें गुणस्थान तक हो सकता है। यह ध्यान आर्त ध्यानसे भी अधिक खोटा है।

धर्मध्यानके चार भेद—आज्ञाविचय, अपाय विचय, विपाक विचय, और संस्थान विचय। **आज्ञा विचय**—आगमको प्रमाण अर्थात् श्री जिनवाणीके अनुसार पदार्थोंके स्वरूपको चिन्तवन करना। **अपाय विचय**—इस बातका चिन्तवन करना कि संसारके जीव सच्चे धर्मसे अज्ञानी और अश्रद्धानी होकर संसारमें ही भ्रमनेका यत्न करते हैं किस प्रकारसे यह प्राणी खोटे मार्गसे फिरेंगे और किस प्रकार जैन धर्मका प्रचार सर्वत्र सब जीवोंमें होकर धर्मकी प्रवृत्ति होगी। समीचीन मार्गका तो प्राय अभावसा हो गया है इत्यादि कुमार्गके अभावका कारण चिन्तवन करना। **विपाक विचय**—पाप कर्मोंसे दुःख और पुण्य कर्मोंसे सांसारिक सुख और दोनोंके अभावसे मोक्षकी प्राप्ति होती है इस प्रकार कर्म फलको चिन्तवन करना। **संस्थान विचय**—लोकके स्वरूप और द्रव्योंके स्वभावको चिन्तवन करना। धर्मध्यान पुण्यबन्धका कारण है और परम्परासे मोक्षका भी हेतु है। यह ध्यान ४-५-६ और सातवें गुणस्थानमें ही होता है। **शुक्लध्यानके चार भेद**—पृथक्त्व वितर्क विचार, एकत्व वितर्क अविचार सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रिया निवर्तिनी। **पृथक्त्व वितर्क विचार**—द्रव्य गुण पर्याय मन वचन काय योग इनका जो जुदापना है उसको **पृथक्त्व कहते हैं**। श्रुतज्ञान तथा निज शुद्ध आत्माको कहनेवाला जो अन्तरंग वचन (सूक्ष्म शब्द कल्पना) है वह **वितर्क कहलाते हैं**। विना इच्छा किये अपने आप ही

एक अर्थसे दूसरे अर्थमें, एक वचनसे दूसरे वचनमें और मन वचन काय इन तीनों योगोंमें, एक योगसे दूसरे योगमें जो परिणमन याने परिवर्तन होता है उसको **विचार कहते हैं । भावार्थ**—यद्यपि ध्यान करनेवाला पुरुष निज शुद्धात्माके ज्ञानको छोडकर बाह्य पदार्थोंकी चिन्ता नहीं करता अर्थात् निज आत्मा ही का ध्यान करता है तथापि जितने अंशोंसे उस पुरुषकी अपनी आत्मामें स्थिरता नहीं है। उतने अशोंसे बिना इच्छा किये ही विकल्प उत्पन्न होता है इस कारणसे इस ध्यानको पृथक्त्व वितर्क विचार कहते हैं। तर्क करना विचारना अर्थात् श्रुतज्ञान वितर्क है। परिवर्तनको विचार कहते हैं। वह ध्यान, आठ, नव, दश और ग्यारहवें गुण स्थानमें होता है।

शुक्ल ध्यानके—एकत्ववितर्कअविचारका स्पष्टीकरण—यह ध्यान तीनों योगमेंसे किसी योगवालेके होता है और बारहवें गुणस्थानमें श्रुत केवली ही होता है। शुक्लध्यानके सूक्ष्मक्रिया प्रतिपातिका स्पष्टिकरण—यह ध्यान काययोगवालोंको होता है और तेरहवें गुणस्थानमें अर्थात् सयोगकेवली भगवानको ही होता है। शुक्लध्यानका व्युपरतक्रियानिवर्तिनीका स्पष्टीकरण—यह ध्यान चौदहवें गुणस्थानमें अर्थात् अयोग केवली भगवानके होता है। इस प्रकार एक ध्यानवाला जीव कौन कौन गतिको जाता है सो लिखते हैं—

रौद्र ध्यानि नरके पड़े, आरति पशु गति होय।
धरमध्यानसे सदगती, शुक्ल मुक्ति गति होय ॥ १ ॥
जीव अमर सब जानिये, ज्ञान रूप गुणवंत ।
पाप पुन्य फल भोगवे, दुःख सहे महंत ॥ २ ॥
इम प्राणी निश्चे करो, समकित वर मनमांय ।

तत्त्व प्रकाश्य उर धरो, ज्ञान चरण सुखदाय ॥ ३ ॥

पञ्चाविंश अर्थात ५७ आस्रव–५ मिथ्यात्व, १२ अविरत, २५ कषाय और १५ योग।

पंच मिथ्यात्व–एकान्त वादी–बौद्ध, विपरीत वादी–ब्राह्मण, वैनय वादी–सन्यासी संशय वादी–आगम विरोधी और अज्ञान वादी–तुर्क। बारह अविरत–षट् कायिक और छै–अपनी दया नहीं। पंच इन्द्रिय और छठा मन वश नहीं। अपने ही शुद्ध आत्मिक, स्वसुखमें आनन्दित रहना आत्माका निज स्वभाव है, उस परम आनन्दसे विमुख होकर यह जीव बाह्य विषयोंमें रमता है उसको अविरती कहते है। यह अविरत पांच हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह। इन्हींके त्यागको व्रत कहते हैं अथवा यही अविरत मन और पांचों इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति रूप ६ भेद तथा ६ कायके जीवोंको विराधना रूप ६ भेद ऐसे दोनों मिलनेसे १२ प्रकारके अविरत हुए।

पन्द्रह योगके भेद आगे कह चुके हैं–इस तरह ५७ आस्रव हुये।

जाइ य अर्थात् चौरासी लाख जीव योनि—

नित्य निगोद–७०००००	इतर नीगोद–७०००००
पृथ्वी काय–७०००००	अप काय–७०००००
तेज काय–७०००००	वायु काय–७०००००
वनस्पति काय–१००००००	बे इंद्रिय–२०००००
ते इंद्रिय–२०००००	चउ इंद्रिय–२०००००
देवगति–४०००००	नरकगति–४०००००

तिर्यंचगति—४००००० मनुष्यगति—१४०००००
इस प्रकार चौरासी लाख जीव योनि हैं ।

कुल कोडी अर्थात् एकसो साढे निन्याणवे लाख कुल कोडी पिता पक्ष—

(सवैया ३१ सा)

पृथ्वी काय वीस दोय, जल सात तेज तीन, वायु सात तरू बीस, आठ परदानिये । ये ते चउ इन्द्रि सात, आठ नव खग बार, जलचर साढेबारे, चो पे दश जानिए । सिरी सर्प नव नारकी, पचीस नर चौदे, देवता छवीस कुल, लाख कोड मानिए । दोय कोडा कोडी मांही अधलाख कोड नाहिं, सबको निहारिके दयाल भाव आनिए ।

इति तीसरी गाथा संपूर्णम् ।

त्रेपन क्रियाकी गाथा—गुण वय तव सम पडिमा, दानं जल गालणं अणत्थमियं । दंसण णाण चरित्तं सावर्ण तेवणम् क्रिया भणियं ॥ १ ॥

गुण अर्थात् आठ मूल गुण—सवैया ३१ सा पीपर औउमर फल बड और कठूमर पाकर ए पंच फल उदम्बर बखानिये। मद्य मांस मधु तीन मकारादि अति हीन सुनहुं प्रबीण सबे आठ ए बखानिये । इनहीं के दोष जेते लगे पाप कोष तेते लहे न संतोष एते नर खात मानिये । इनके तजैया मन बच क्रम भव्य जीव आठ मूल गुणके सधैया मन आनिये ।

भोजनको जाते समय अटपटी प्रतिज्ञा करके जाना, रसपरित्याग—रस छोडके भोजन करना, विविक्तशय्यासन—एकांत जगहमें सोना, बैठना; कायक्लेश—नाना प्रकारके आसनोंसे ध्यान धरके शरीरको कष्ट देना, प्रायश्चित—अपना अपराध गुरुको कहना, विनय—दर्शन ज्ञान चारित्र तपको प्रेमसे पालना व गुण वय वृद्धकी विनय करना, वैयावृत्त—मुनिकी पीडा दूर करना, स्वाध्याय—जिनशास्त्रका अभ्यास करना, व्युत्सर्ग—शरीरका ममत्व छोडना, ध्यान—आत्माको स्थिर करना।

सम अर्थात् सम्यक्तका मूल।

दानानि शीलानि तपांसि पूजा, सत्तीर्थयात्रा प्रवरा दया च।
श्रावककृत्य च व्रत पालन च, सम्यक्त मूलानि महाफलानि॥

पडिमा अर्थात् प्रतिमाके ११ प्रकार—सवैया ३१सा—दर्शन विशुद्धिकारी बारह व्रतधारी, सामायक चारी पर्व पोसह विधी वहे। सचितको परिहारी दिवस अपरमनारी आठों जाम ब्रह्मचारी निरारंभ व्हे रहे। पाप परिग्रह छांडे, पाप कीने सिख्या मंडे कोऊ वाके निमित्त करे सो वस्तु ना गहे। एते देश व्रतके धरैया समकिती जीव ग्यारह प्रतिमा तिन्हें भगवंतजी कहे।

ग्यारह प्रतिमाके भिन्न भिन्न नाम—दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामाइक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त त्याग प्रतिमा। रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा। ब्रह्मचर्य प्रतिमा। आरंभ त्याग प्रतिमा। परिग्रह त्याग प्रतिमा। अनुमति त्याग प्रतिमा और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा।

ग्यारा प्रतिमाओंका अलग २ विस्तार।

दर्शन प्रतिमा—सम्यग्दर्शन सहित मद्य मांसादिक त्यागरूप

अष्ट मूल गुणका निरतिचार पालनेवाला दार्शनिक अर्थात् १ ली प्रतिमाका धारी कहलाता है। इस प्रतिमामे जुवा खेलना, मास भक्षण करना, शराब पीना, वेश्यागमन, शिकार खेलना, चोरी करना, और परस्त्री सेवन करना, इन सात कुव्यसनोंका अतीचार सहित भी त्याग होना है। **व्रत प्रतिमा**—१२ व्रतका धरना अर्थात् जब दार्शनिक १२ व्रतका पालन करता है तब वह व्रती कहलाता है। **सामायिक प्रतिमा**—प्रभातकाल मध्यान्हकाल और अपराह्नकाल अर्थात् सुवह दोपहर और शामको कमसे कम २ घड़ी याने ४८ मिनट विधिपूर्वक सामायिक करना। **प्रोषध प्रतिमा**—महीनेके चारोपर्व दिनोंमें अर्थात् प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशीको १६ पहरका उपवास करना। **सचित्त त्याग प्रतिमा**—हरी वनस्पति अर्थात् कच्चे जल फल फूल बीज आदिक न खाना। **रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा**—रात्रिको सर्व प्रकारके आहारका मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करना और दिवसको मैथुनका त्याग करना। **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—अपनी व पराई व किसी भी प्रकारकी स्त्रीसे भोग तथा भोगकी इच्छा भी न करना। **आरंभ त्याग प्रतिमा**—गृह कार्य संवन्धी सर्व प्रकारकी क्रियाका त्याग करना। **परिग्रह त्याग प्रतिमा**—दश प्रकारके बाह्य परिग्रहसे ममताको त्यागकर संतोष धारण करना। **अनुमोदन त्याग प्रतिमा**—अन्य गृहस्थीके संसारिक कार्योंके अनुमोदना भी न करना। जो कोई भोजनको बुलावे उसके यहा भोजन कर आवे परन्तु यह न कहे कि मेरे लिये अमुक वस्तु बनाओ- **उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा**—घर छोड वन तथा मठ आदिकमे तपश्चरण करते हुए रहना, भिक्षा भोजन करना और खंड वस्त्र व लंगोटी

(कोपीन) मात्र धारण करना इस प्रतिमा धारीके दो भेद है। क्षुल्लक और ऐलक—पहले दर्जेवाले अर्थात् क्षुल्लक अपनी डाढी आदिके केश उस्तरे वा कैंचीसे कटवाते हैं। लंगोटी और उसके साथ चादर वा दुपट्टा जिससे पूरा अंग न ढके धारण करते हैं तथा बैठकर पात्रमें भोजन करते हैं और इससे ऊंचे दर्जेवाले अर्थात् ऐलक केशोंका लोच करते हैं और केवल लंगोटी धारण करते हैं तथा मुनिकी सदृश हाथमें पिच्छिका रखते हैं और अपने हाथसे ही भोजन करते हैं किसी वर्तनमें नहीं करते हैं।

दान चार प्रकार—दोहा—आहार दान प्रथमो कह्यो, औषध दूजो दान, शास्त्रदान तीजो सही, अभय चतुर्थ प्रमाण।

अर्थ—आहारदान, औषधदान, शास्त्रदान, अभयदान—भावार्थ—दान अर्थात् देनेका नाम दान नहीं है। किसी भयसे वा लोकाचारसे वा अपने किसी संसारिक प्रयोजनके अर्थ देना सो दान नहीं है। दान वह है जो अपने और परके उपकारार्थ भक्ति व करुणापूर्वक पात्र कुपात्र व अपात्रके विचारसे उनके ज्ञान और धर्मकी वृद्धि व संरक्षणार्थ दिया जावे, जिससे अपनेको भी पुण्य बंध हो और दूसरेका भी हितसाधन हो।

जल गालनम् अर्थात् जल गालनेकी विधि।

षट्त्रिंशदंगुलं वस्त्रं, चतुर्विंशति विस्तृतं।
तद्वस्त्रं द्विगुणं कृत्वा, तोयं तेन तु गालयेत् ॥१॥
तस्मिन्मध्ये च जीवाना, जलमध्ये तु स्थापयेत्।
एवं कृत्वा पिबेत्तोयं, स याति परमा गतिं ॥२॥

अणी छमियं अर्थात् चौविहारकी विधि–लेह्य, पेय, स्वाद्य और खाद्य।

लेह्य–चाटनेकी चीज़, पेय–पीनेकी चीज, स्वाद्य–पान सोपारी लवग इलायची आदि स्वादिष्ट व मुहमें रखने योग्य सुगंधित चीज, खाद्य–खानेकी चीज इन चीजोंको रात्रि समय त्याग करे सो चौविहार है।

दंसण णाण चरित्तं अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । अर्थ—रागादिक मिटानेका श्रद्धान होय वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जिससे रागादिक मिटानेका जानना होय सो जानना सम्यग्ज्ञान है। जिससे रागादिक मिटे सो ही आचार सम्यक्चारित्र है।

राग किसको कहते है? किसी पदार्थको इष्ट जान कर उसमें प्रीतिरूप परिणाम करना उसका राग कहते है।

द्वेष किसको कहते हैं? किसीको अपना अनिष्ट जान उसमें अप्रीति परिणाम करना उसको द्वेष कहते है।

इति चतुर्थ गाथा सपूर्ण।

मौन धारण करनेका समय ।

भोजने वमने स्नाने, मैथुने मलमोचने ।
सामायके जिनर्चायां, गृहीनां मौनसप्तकम् ॥

भोजन समय, वमन याने उलटी होती होय उस वक्त, स्नान याने नहावे समय, मैथुन समय, मल मूत्र निकालते समय, सामायक याने ध्यानके समय और जिन पूजा करते समय गृहस्थोंको मौन रखना चाहिये ।

प्रकृतियाँ-

सवैया (३१ सा)।

ज्ञानावरणी पंच, दर्शनावरणि नो विध दोय वेदनी जान मोहनी बीस आठ विधि। आयुच्यार परकार नामकी प्रकृति तिराणु या एकसो तीन गोत द्वे भेद वखानुं। अरु अंतराय की पांच सब ो अडतालीस जानिए। इम आठ कर्म अड़ताल सौं भिन्न रूप नि- मानिए।

अष्ट कर्मके अष्ट द्रष्टांत।

सवैया ३१ सा।

देव पै पडयो है पट रूपको न ज्ञान होय जैसें दरवान भूप कनो निवारे है। सहत लपेटी असिधारा सुख दुखकारी मदिरा ज्यों जीवनको मोहनी विथारे है। काटमें दीयो है पांव ज्यों आयुको स्वभाव चित्रकार नाना नाम चित्तके समान है। चक्र ऊंच नीच धरे भूप दियो मने करे सोई आठ कर्म हने सोई हमें तारे है।

सात क्षेत्र-

जिनबिंबं जिनागारं, जिनयात्रा प्रतिष्ठितं।
दानं पूजा च सिद्धांत, लेखनी सप्त क्षेत्रकं॥

पुण्य कर्म-

देव पूजा दया दानं, तीर्थयात्रा जपस्तपः।
श्रुतं परोपकाराय, मृत्युजन्मफलाष्टकं॥

विना छाना पानीका दोष-

अगालितं जलं येन, पीवतमंजुलिमात्रकं।
सप्तग्राम दहोद्भूतं, पापं तस्य प्रजायते॥

अनागत अर्थात् आवती चौवीसीकी गाथा-
सत हरि नव पडि हरि, चउ चक्री तहे व बलि एको। श्रेणो सम्मत्त भद्दो सतिपूत्तो अणा गयासीद्वा ॥

पूरव गिन्तीका दोहा—सत्तर लाख करोड़ अरु, छप्पन सहस करोड । एते बरस मिलायके, पूरव संख्या जोड ।

सामाइकका स्वरूप—

समता सर्वभूतेषु, सयम शुभ भावना ।
आर्तरौद्र परित्याग, स्तद्धि सामाइक व्रत ॥

त्रेसठ सलाका पुरुषोंकी गिन्ती—नव नारायण, नव प्रतिनारायण, नव बलभद्र, बार चक्रवर्ती, चोवीस तिर्थंकर ।

त्रेसठ सलाका पुरुषके, जीव हैं ओगणसाठ । पिता कहे इकावन, माता उनकी साठ॥

चार देव याने चार अनुयोग—प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग,

दोहा— सुदेव ते सद्गुरु कह्या, सद् आगम सुण भेद । हिंसा जीव जहा नहीं, सत्य शौचनो भेद ॥ प्रथमानु शुभ योगमें, कथा प्रवर्ते सार । उत्तम त्रेषठ पुरुषकी, सुणिये भवि सुखकार ॥ अवर योग उत्तम कह्यो, करुणानु अभिधान । कथा अनोपम तेहमें, तीन लोक परमान ॥ निर्मल मुनिवरनी क्रिया, श्रावकनो आचार । तृतीय योग चरणानु ए सुनिये भवि निर्धार ॥ तत्वअर्थ षट् द्रव्य अरु, पंच अस्ति सो काय, द्रव्यानु शुभ योगमा, भाषे हैं जिनराय । देव शास्त्र गुरु सत्य ये, परम्परा ए जान । बचन बिरोध जहां नहीं, ते शुभ शास्त्र प्रमाण ।

भरत चक्रवर्तिकी वृत्तिका पद ।

भरतजी घरही में वैरागी, जाकी सुरति मुक्तिमें लागी । भरतजी० । सहस बत्तीस मुकुटबंध राजा, सेवा करें बडभागी । सहस छयानवें रानी जाके नहिं, तिनसो अनुरागी ॥भरतजी० १॥ कोड़ि अठारा तुरंगमराजे, कोड़ि चोरासी पागी । लक्ष चौरासी रथ गज सोभे, सुरति धर्म सु लागी ॥ भरतजी० २ ॥ नव निधि चौदह रतन सजे गृह, मन चिंता सब भागी । कोडि छयानवे गाव अधिपति, सहस बत्तीस देश भागी ॥ भरतजी० ३ ॥ च्यारि कोड़ि मन अनाज वटे नित, लवण लाख दश लागी । तीन कोड़ि गाय घर राजे, कोड़ि लाख हल त्यागी ॥ भरतजी० ४ ॥ लक्ष चौरासी पूर्व आयु भई, गही दिक्षा वड़ भागी । अंत मुहुर्त एकहि माहीं, केवल ज्ञान लहागी ॥ भरतजी० ५ ॥ जो जल मांही कमल नहिं भीजे त्यों नहि भयो सरागी । कनककीर्ति मुनिवर वंदत, दीज्यो मुकृति में भागी ॥ भरतजी० ६ ॥

संसारमें सार क्या है ?

सेवा जो अरहंतो, पालिज्जय हिंसा विवज्जिय धम्मो । वदिज्जे निगायो, संसारे इति य सार ।

सप्त दातृ गुण—

श्रद्धाभक्तिस्तुतिज्ञानदयालत्वक्षमाअलुब्धता ।
यत्रैते च गुणाःसंत तं दातारं प्रशंसति ॥

दो इंद्रियसे पंचेंद्रिय तक पिछान—शंख सीप अरु अलशीया, किरमी कितक जोय । जलोवालो अलवधिया, भादरवा बहु होय । जीव बे इंद्रिय कह्या, इल्लीको दे आद, तेह तणी रक्षा करो, छोड़ सकल प्रमाद । चाचड माकड (खटमल) जूं बहु, मंकोड़ा मन

सूक्ष्म—वह पुद्गल है जो देखनेमें बहुत मालूम हो पर सूक्ष्म इतना है कि आप उसे हाथसे पकड़ नहीं सकते। जैसे चांदनी-धूप-छाया-आदिक, स्थूल—वह पुद्गल है जो बहनेवाली चीज है याने जिसके टुकडे कर देनेसे फिर वह बिना किसी चीजकी सहायताके वैसे ही मिल जावे जैसे पानी-दूध-तेल आदिक। स्थूल स्थूल—वह पुद्गल है जिनका टुकड़ा किये जानेसे विना दूसरी चीजकी मददके फिर न जुड़ सके। जैसे पत्थर मिट्टी लकड़ी आदिक।

इन छः भेदोंमें हमारे जीवके साथ संबंध विशेषकर इस सूक्ष्म जातिके पुद्गलोंसे है। जो कि हमारे जीवको स्वभाव जनित निजानंद प्राप्त करनेमें बाधा डालते हैं। अतः हमें ऐसे कर्म वर्गणा जातिके पुद्गलोंका विशेष निरूपण करना उचित है। इस कर्म वर्गणाके पुद्गल याने कर्मोंका सम्बध हमारे जीवसे अनादि कालसे है। और यही एक प्रकारका मल है जो कि जीवको अपने स्वाभाविक कार्यके करनेमें बाधा डालता है और जब तक यह कर्म रूपी मैल हमारी आत्मासे सम्मिलित है तबतक यह आत्मा स्वाधीन रह कर स्वयं अपने ज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वभावको प्रकाश नहीं कर सकता है। यह कर्मरूपी मल हमेशासे इस जीवके साथ लगा है। कोई नया नहीं परन्तु इसके निज स्वभावसे भिन्न है। जैसे खानिसे निकली हुई धातु मिट्टी आदिसे मिली हुई निकलती है और मिट्टीके अलग करनेसे वह शुद्ध हो जाती है। मिट्टीका स्वभाव उस धातुके स्वभावसे भिन्न है उसी तरह आत्मासे अनादि कालका मिला हुआ यह पुद्गल—भिन्न स्वभावधारी कर्मरूपी मल प्रयत्न करनेसे दूर होकर यह आत्मा शुद्ध हो सकता है।

श्रावकके २१ गुण—सवैया ३१ सा—लजावंत दयावंत प्रशांत प्रतीतवंत परदोषके ढकैया परउपकारी हैं। सौम्यदृष्टी गुणग्राही गरिष्ठ सबको इष्ट शिष्टपक्ष मिष्टवादी दीरघ विचारी है विशेषज्ञ रसज्ञ तत्त्वज्ञ कृतज्ञ धर्मज्ञ न दीन अभिमानी मध्य व्यवहारी है। सहज विनीत पापक्रिया सों अतीत ऐसे श्रावक इकवीस गुणधारी हैं।

अर्थ—लज्जावंत, दयावंत, प्रशान्त, प्रतीतवंत, [illegible], परोपकारी, सौम्यदृष्टि, गुणग्राही, श्रेष्ठपक्षी, मिष्टवादी, दीर्घविचारवंत, शीलवंत, कृतज्ञ, तत्त्वज्ञ, धर्मज्ञ, मिथ्यात्वरहित, [illegible], स्याद्वादी भाषण, अभक्ष्यत्यागी और षट् कर्मप्रवीण।

सात नरकोंसे निकल कर जीव कौन कौन गति धरता है।

छप्पय—सप्तमसे पशु होय देशसंजम न सम्हारे। नर्कसो निकलि मनुष होय तुर्तोस्त नाहि पाले ॥ पचमसो नर मोक्षगतिको नहीं साधे। चौथेसे निकलि जाय नाही तीरथकर लौं तृतीय शुभ वासलों आयके, वासुदेव पद नहीं धरे। प्रतिवासुदेव पुनि, चक्रवर्ति नहीं अवतरे।

यज्ञ विषैं जीव होम निषेध—सवैया ३१ सा—कहे पशु दीन सुन यज्ञके करैया मोहि होमत हुतासनमें कौनसी बड़ाई है। स्वर्गसुख मैं न चाहूं देहु मुझे यों न कहूं घास खाय मेरे यही मन भाई है। जो तू यह जानत है वेद भी है यज्ञ जलो जीव पावे स्वर्ग सुखदाई है। डारे क्यों नहिं बीर अपने कुटम्ब हीको मोहे क्यों जारे जगत इसकी दुहाई है।

पंच शून्य—

खंडनीपीसनीचुलीककुभप्रमार्जनी ।
पंचशून्या गृहस्थस्य षष्ठ द्रव्यमुपार्जन ॥

छह काल छह संहनन चौदा गुणस्थान कथन—

छप्पै—प्रथम द्वितिय अर तृतियकालमें पहिला जानो । चौथे षट् संहनन पंचमें तीन बखानो । करम भूमि तिय तीन येक छट्टेके मांही । विकल चतुष्कै येक येक इंद्रियके नाहीं । षट् कहे सात गुणस्थान लग, तीन ग्यारहलौं लहे । इक क्षपकश्रेणी गुण तेरहवें, भन जिनवाणीमें कहे । **अर्थ**—पहिला काल च्यार कोटा कोटी सागरका है। इसका नाम **सुखमा सुखमा** (अति सुख) है । दूसरा काल तीन कोटा कोटी सागरका है इसका नाम **सुखमा** है । इसमें सुख ही है । तीसरा काल दोय कोटा कोटी सागरका है इसका नाम **सुखमा दुःखमा** है । इन तीनों कालके जीव मर कर देव गतिमें जांय और गतिमें न जांय यह नियम है । सम्यकदृष्टि सौधर्म—ईशान स्वर्गमें जाय अर मिथ्यादृष्टि भुवनत्रिकमें उपजे । इन तीनों कालमें भोग भूमि (कल्पवृक्षका सुख) है और वज्रवृषभनाराच संहनन है । चौथा काल बियालीस हजार वर्ष घाट एक कोटा कोटी सागरका है । इसका नाम **दुखमा सुखमा** है । जैसे किसान पहिले कष्टसे खेती करे तब पीछे सुखसे खाय । चौथे कालमें ६३ शलाका पुण्यात्मा पुरुष उपजे हैं । चौथे कालमें छहू संहनन पाइये । पांचमा काल इक्कीस हजार वर्षका है । इसका नाम **दुखमा** है । पंचम कालमें अर्द्धनाराच कीलक और स्फाटिक ये तीन संहनन पाईये और नाहीं । और

कर्मभूमिके स्त्रीके ये ही तीन संहनन पाइये और कोई संहनन न पाइये। छट्ठा काल एकवीस हजार वर्षका है। इसका नाम **दुखमा दुखमा (अति दुःख)** है। छट्ठा कालमें एक स्फाटिक संहनन पाइये और पांच संहनन पाइये नहीं। विकल चतुष्क (बे इंद्रि—तीन इंद्रि—चौ इंद्रि) अर असैनी पचेंद्रि इनके स्फाटिक ही है। एकेंद्रिय (पृथ्वी—अप—तेज—वायु—वनस्पति) ये पांच स्थावरके संहनन होइ नाहीं। छहों संहननवाले सातवें गुणस्थान तक पाइये। गुणस्थान नाम परिणामका है। अर अर्द्धनाराच, कीलक, स्फाटिक, ये सातवें गुणस्थानके ऊपर न जाय। वज्रवृषभ, नाराच और वज्रनाराच ये तीन संहनन वाले ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत पाइये। वज्रनाराच, नाराच, ये ग्यारहवें गुणस्थानके ऊपर न जाय सके वज्रवृषभ नाराच संहनन वाला क्षपकश्रेणी मांडे और पांच संहनन वाले न मांडे। तेरहवें गुणस्थानतक वज्रवृषभनाराच संहनन है आगे संहनन (हाड) नाहीं। ऐसा जिनवाणीमें कह्या है वह बानी मान्य है।

देव देवी संजोग. देवलोक प्रविचारकथन—कवित्त—दोयसुरगनें काय भोग है· दोयमें फरस निहार। चार स्वर्गमें रूप निहारे चार स्वर्गमें शब्द विचार। चार स्वर्गमें मनको विकलप आगे सहज शील निरधार। अहमिंद्र सब महा सुखी हैं तैं सिद्ध सुखी अविकार ॥ अर्थ ॥ भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी अर सौधर्म स्वर्ग, ईशान स्वर्ग यहांके देव देवांगनाको जब भोगकी वांछा उपजे है तब स्त्री मनुष्यके समान कायातै भोग करे हैं तातै याका नाम काय प्रविचार कह्या। इनतै ऊपर सनत्कुमार, माहेंद्र दोय स्वर्ग

के देव देवांगनाको स्पर्शसे भोगकी बांछा तृप्त होय है। इनसे ऊपर ब्रह्म, ब्रह्मोतर, लांतव, कापिष्ट इन चार स्वर्गमें देव देवीको कामरूप दृष्टिसे देखकर भोगकी बांछा मिट जाय है। इनसे ऊपर शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार इन चार स्वर्गोंमें कामरूप शब्द बोले कि भोगकी बांछा मिटे है। इनसे ऊपर आनत, प्राणत, आरण, अच्युत इन चार स्वर्गके देव देवीको कामकी इच्छा होय। जब मनमें कामरूप कल्पना करे तब भोगकी बांछा मिटे है—पूरी हो जाय है। इन १६ स्वर्गके ऊपरके नव ग्रैवेयक नव अनुदिश, पांच अनुत्तर इन देवोंके देवांगना ही नहीं हैं। तासे ये देवता सहज शीलवंत (ब्रह्मचारी) हैं अरु अहमिंद्र हैं। पारिषादिक (सेवकादि) दश प्रकारका भेद नहीं है। अहमिंद्र अपना काल (३३ सागरकी आयु) धर्मध्यानमें व्यतीत करे हैं। एक जीवद्रव्यकी चर्चा करे हैं, सब सुखी हैं, इनके ऊपर सिद्ध परमेष्ठी हैं वे महा सुखी हैं अविकारी हैं, तिनको मैं बंदू हूं। देवांगना उपजनेकी उत्पादशय्या पहले अर दूसरे स्वर्गमें ही है। ऊपरके स्वर्गमें नहीं है। सौधर्म और ईशान स्वर्गके ऊपरके सोला स्वर्ग पर्यंतके देवता तहां आय अपनी अपनी नियोगनी देवीको ले जाय हैं। पांचमें ब्रह्म स्वर्गके अंतमें लौकांतिक देव बसे हैं। वे ब्रह्मचारी हैं।

संसार स्वरूप सवैया—३१ सा—काहू घर पुत्र जायो काहूके वियोग आयो काहू राग रंग, काहू रोया रोय करी है। जहां भानु ऊगत उछाह गीत गान देखे सांझ समें ताही थान हाय हाय परी है। ऐसी जग रीतको न देख भयभीत होय, हा हा नर मूढ तेरी मती कौने हरी है। मानुष जनम पाय

सोवत विहायो जाय खोवत करोरनकी एक एक घरी है ।

सोरठा छंद—कर कर जिनगुन पाठ जात आकारथ रे जिया । आठ पहरमे साठ घरी घनेर मोलकी । कानी कौडी काज कोड़िनको लिख देत खत । ऐसे मूरख राज जगवासी जिय देखिये ॥ **दोहा**—कानी कौडी विषय सुख, भवदु ख करज अपार । विना दिये नहि छूटि है, लेशहु दामउधार ।

फुटकर दोहा—माला तो करमें फिर, जीभ फिरे मुख माय । मनुवा फिरे बजारमे, वो तो सुमरन नाय ॥ १ ॥ माला जैन-नसों कहे, कहा फिरावे मोय । मनुवा क्यों नहि फेरता, मुक्त मिलावे तोय ॥२॥ आयु गले मन ना गले, इच्छाशा न गलत । तृष्णा-मोह सदा वढे, यासे भव भटकत ॥ ३ ॥ ज्यों मन विषयोंमें रमे, त्यों हो आतम लीन, क्षणमें सो शिव तिय वरे, क्यों भव भ्रमे नवीन ॥ ४ ॥ कनकपात्र बोले नही, कासो करे झननाट । बडे पुरुष बोले नहीं, हीन करे कल्लाट ॥५॥ देखो सनकी दुष्टता, नेक न आवे लाज । चाम छुलावे आपनी, परबंधनके काज ॥ ६ ॥ अरे त्रिनोला बापरे, मनके वडे घरीर । चाम छुलावे आपनी, परके ढंकन शरीर ॥ ७ ॥ कौवा कुछ नहिं लेत है, कोयल कछु नहिं देत । मीठे वचन सुनायके, जग अपना कर लेत ॥८॥ एक चरन जो नित पढे, तो काटे अज्ञान । पनिहारीकी डोरिसे, सहज कटे पाषाण ॥ ९ ॥

बारह १२ प्रसिद्ध पुरुषोंके नाम—छप्पै—वंदो पारस-नाथ, नमौ बलि रामचंद्र वर । कामदेव हनुमंत, प्रगट रावण मानी नर ॥ दानेश्वर श्रेयास, शीलमें सीता नामी । तप बाहुबलि नाम, भाव भरतेश्वर-

१ कपास (रुई)

स्वामी ॥ जग महादेव है रुद्रपद, कृष्णनाम हरि मानिये। द्यानत नाभि कुलकरनमें भीमबली भुज मानिये ॥ अर्थ—चौवीस तीर्थंकरोंमें तेवीसवें पार्श्वनाथ स्वामी प्रसिद्ध भये, नव बलिभद्रमें आठवें बलिभद्र रामचंद्र प्रसिद्ध भये, चौवीस कामदेवमें १८ वें हनुमान प्रसिद्ध भये, मानीपुरुषोंमें आठवां प्रतिनारायण रावण प्रसिद्ध भया। दान देनेमें हस्तनागपुरका राजा श्रेयांस और पतिव्रतानिमें सीता रानी प्रसिद्ध भई, तप करनेमें बाहुबलि प्रसिद्ध भये (एक वर्षपर्यंत कायोत्सर्ग खड़े रहे), मनके परिणामके निर्मलता विषैं आदीश्वरके पुत्र भरत चक्रवर्ति विख्यात भये (अंतरमुहूर्तमें केवल ज्ञान उपज्या), ग्यारा रुद्रोंमें पार्वतीकंत ११ वां महादेव प्रसिद्ध भया। नव नारायणमें नवमां कृष्ण प्रसिद्ध भया। द्यानतराय कहते हैं कि १६ कुलकरोंमें नाभिराजा अरु बलमें कुंतीपुत्र भीम बलि प्रसिद्ध भया।

चौवीस तीर्थंकरोंके शरीरका वर्णन छप्पै—पुष्पदंत प्रभुचंद्र, चंद्रसम सेत विराजै। पारसनाथ सुपार्श्व, हरित पन्नामय छाजै ॥ वासपुज्य अरु पद्म रक्तमाणिक दुति सोहै, मुनिसुव्रत अरु नेमि स्याम सुंदर मन मोहै। बाकी सोले कंचनवरन, यह विवहार शरीर युत। निहचै अरूप चेतन विमल, दरसन ज्ञान चरित्तजुत। अर्थ—आठवें चंद्रप्रभु और नवमें पुष्पदंत, इन दोनों तीर्थंकरके शरीरका वर्णन श्वेत (चंद्रसम) है; सातवें सुपार्श्वनाथ और तेवीसवें पार्श्वनाथ इन दोनोंके शरीरका वर्ण हरित पन्नासम है। छट्ठे पद्मप्रभु और बारवें वासुपूज्य इन दोनोंका वर्ण पद्मराग मणी समान लाल है। वीसवें मुनिसुव्रत और बाईसवें नेमीनाथ इनका वर्ण नीलमणी समान श्याम है, अति शोभायमान है, बाकी सोला तीर्थंकरोंके शरीरका वर्ण सुवर्ण समान है, यह व्यवहार

कर शरीरका वर्णन किया—स्तुति करी । निश्चय नय करके आ-
आत्म स्वरूपी है, चैतन्यमई है, अरूपी है, अति निर्मल है। कैसे
कैसे हैं? परमात्मा हैं, क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, स्वरूपाचरण
(क्षायिक चारित्र) इनका संयुक्त रत्नत्रय करि विराजमान हैं ।

समोसरणमें पूजाका विस्तार ।

सवैया २३ सा—जलचंदनअक्षतफूल ले नेवज दीपधूप फल जान । धरती धरी गिरी धरनीपर, नांहि उठावन के जुवजान । प्यासों लगी दुष्ट कोउ छूवे, बहुत लोग मसलत नहि जान नीचो कर धर ले न चढ़े, सो मलिन द्रव्य नहि ढंके सुजान । **दोहा**- इह विपरीत बचायके, सुंदर द्रव्य सुधोय । ले जिनवर पूजा करे शिव तिय वल्लभ होय ।

पूजाके समय कैसा पुरुष चाहिये ।

सवैया ३१ सा—काणो अंध बुंदर कुली आखोंमें सुजान कान कटी नाक कटी भंग अंग जानिए । खोड़ो कुब्ज पंगु तोतले सुभग अरु अंगुरी न होय सेत गाठ गूंगा खांसी जो प्रमाणिये । फोडा कोड कस्त दाद खेसी अदीठ दीह, दुर्गंध भगंदर मुखे रोग आनिये । व्यसन जो सात तीन श्वास रोग नाक बहै, एते नर जीवनको पूजा मने जानिये ।

पूजा करनेसे क्या फल मिलता है—शार्दूलविक्रीडित छंद—ये पूजां जिननाथशास्त्रयमिनां भक्त्या सदा कुर्वते। त्रैसंध्यं सुविचित्रकाव्यरचनामुच्चारयंतो नरा ॥ पुण्याढ्या मुनिराजकीर्तिसहिता भूत्वा तपो भूषणा । ते भव्या सकलावबोधरुचिरां सिद्धिं लभंते परां ॥

अर्थ—जो पुरुष नाना प्रकार सुंदर काव्य रचनाको उच्चारण करके श्री जिनदेव, शास्त्र और संयमी मुनिकी पूजा सदा तीन काल भक्ति सहित करते हैं, वे भव्य जीव महान पुण्यके धारी होते हैं और तपरूप आभूपणके धारी होकर मुनीश्वरनिकी कीर्तिको पाकर केवल ज्ञान संयुक्त सुन्दर सर्वोत्कृष्ट सिद्ध पदको प्राप्त होते हैं।

पूजाके समयका पद—नाथ तोरी पूजाको फल पायो, मेरे यों निश्चै अब आयो ॥ नाथ० ॥ मेडक कमल पांख ले मुखमें, बीर जिनेश्वर ध्यायो। श्रेणिक गजके पग तले मूवो, तुरत स्वर्ग पद पायो ॥ नाथ० ॥ १ ॥ मैनासुंदरी सुभ मनसेती, सिद्ध चक्र गुण गायो, अपने पतिको कोढ गमायो, गंधोदक फल पायो ॥ नाथ० ॥ २॥ अष्टापदमें भरत नरेसुर, आदिनाथ मन लायो। अष्ट दरबसे पूज्या प्रभूजी, अवधि ज्ञान दरसायो ॥ नाथ० ॥ ३ ॥ अंजनसे सब पापी तिरिया, मेरा मन हुलसायो। महिमा मोटी नाथ तुमारी, मुक्तिपुरी पद पायो ॥ नाथ० ॥ ४ ॥ थक थक हारे सुरपति नरपति, आतम सीख जितायो। देवेंद्रकीर्ति गुरु ज्ञान मनोहर, पूजा ध्यान बतायो ॥ नाथ० ५ ॥

अलग अलग कौन जीवने पूजा की—सवैया ३१सा—माली सुता स्वर्ग लयो भव्य जीव मुक्ति गयो मेडक भी स्वर्ग थयो बैस भूत पायो है। ब्राह्मणकी कन्या परभावती जिनेंद्र पूज रत्नशेखर चक्री है जगत बशि लायो है। ग्वाल पूज देव भयो वज्रदंत अवधि लयो श्रेणीक जिनपूज राय क्षायक कहायो है। ऐसे जिन पूज अष्ट दूर कीए सर्व कष्ट अष्ट द्रव्य पूजेसे क्यों न सुख पावे है ॥ **दोहा**—जे नरनारी भावसे, पूजा मनवच कीन। पढ़े पढ़ावे भावसे, मनवांछित सुख लीन।

राग कहरवा—चलिये जिनेश्वर पूजिए, जाके पूजे शिव पद होय ॥ चलिये० ॥ जल गंध सुअक्षत लीजिए वामें पुष्प मिलाय ॥ चलिये० १ ॥ चरुदीपधूपफल लीजिये वाको अरघ बनाय ॥ चलिये० ॥ २ ॥ एजी सुगुरु बचन उरु आनिए, आवागमन निवार ॥ चलिये० ॥ ३ ॥ **राग होरी**—भला कब ऐसा अवसर पाऊं, भला कब पूजा रचाऊं। रतन जड़ित सुवर्णकी झारी, गंगाजल भर लाऊं। केसर अगर कपूर घिसाऊं, तांदुल धवल धुवाऊं। माल पुष्पनकी चढाऊं, भला कब अवसर पाऊ ॥ १ ॥ भला कब अवसर पाऊं, भला कब पूजा रचाऊ। षट् रस विंजन तुरत बनाके अष्टक थार भराऊं। दीपक जोत उतारूं आरती, धूपकी धूम उडाऊं श्रीफल भेंट चढाऊं ॥ भला० २ ॥ पाठ पढू अरु पूजा रचाऊ, लेकर अर्घ बनाऊं। शात छबी महाराज रूप लख, हरष हरष गुण गाऊं, करमका योग मिटाऊं ॥ भला कब० ३ ॥ बाजत ताल मृदग बासुरी लेकर बीन बजाऊं, नाचत चंद्राप्रभु पद आगे बेर बेर सिरनाऊं निछावर दरसन पाऊं ॥ भला कब अवसर पाऊं ॥ ६ ॥ याविध मंगल पूजन करके हरष हरष गुण गाऊं, सेवककी प्रभु अरज यही है, चरण कमल बल जाऊं। भला कब अवसर पाऊं ॥ ७ ॥

नंदीश्वर द्वीपका वर्णन। राग होरी—आयो परब अठाई, चलो भवि पूजन जाई। श्री नदीश्वरके चहुं दिसमें, बावन मंदिर गाई। एक अंजन गिरि चार दधिमुख रतिकर आठ बनाई, एक एक दिशमें ये गाई ॥ आयो परब अठाई ॥ १ ॥ अंजनगिरि अंजनके रंग है, दधिमुख दधि सम पाई, रतिकर स्वर्ण वर्ण है ताकी उपमां बर्णी न जाई, निरूपमता छबि छाई ॥ आयो० २ ॥ स्वर्ग

थानके सर्व देव मिल तहाँ पूजनको जाई। पूजन वंदन को हमरो जी, बहुतक रह्यो ललचाई। करूं क्या जान सकाई॥ आयो०॥ ३॥ यातें निज थानक जिन मंदिर तामें थाप्यो भाई। पूजन वंदन हर्षसें कीनो तनमन प्रीत लगाई। सिखर मनसा फलदाई॥ आयो परब अठाई, चलो पूजन जाई॥ ४॥

शान्तिस्तवन—शांति जिनं शशिनिर्मलवक्रं। शीलगुणाव्रतसंयमपात्रं॥ अष्टशतार्चितलक्षणगात्रं। नौमि जिनोत्तममम्बुजनेत्र॥ १॥ **अर्थ**—मैं श्री शांतिनाथ तीर्थंकरको नमस्कार करूं हूं। चंद्रमावत् आल्हादकारी है निर्मल मुख जिनका और जो अठारह हजार प्रकारके शील और चौरासी लाख उत्तर गुण, पंच महाव्रत और बारह प्रकार संयमके पात्र है और जिनका शरीर एकसौ आठ लक्षण कर चिन्हित है और जिनके नेत्र कमलके समान प्रफुल्लित हैं॥ १॥ **इंद्रवज्रा छंद**—पंचममीप्सितचक्रधराणां, पूजितमिंद्रनरेंद्रगणैश्च। शांतिकरंगणशांतिमभिप्सु षोडश तीर्थंकर प्रणमामि॥ **अर्थ**—मैं शांतिकी इच्छा करनेवाला श्री शांतिनाथको प्रणाम करूं हूं। जो चक्रवर्तियोंमें पांचवें और तीर्थंकरोंमें १६ में और जिनकी इंद्र और नरेंद्र पूजा करते हैं॥ **छंद**—दिव्यतरुः सुरपुष्पसुवृष्टी, दुन्दुभिरासनयोजनघोषौ॥ आतपवारणचामरयुग्मे यस्य विभाति च मंडलतेज॥ ३॥ **अर्थ**—श्री जिनेन्द्र भगवानके अशोक वृक्ष, सुरपुष्प वृष्टी, देवदुन्दुभि, सिंहासन, एक योजन प्रमाण दिव्य ध्वनि, छत्र, चामर युग्म, भामंडल, शोभते हैं। **छंद**—तं जगदर्चितशांतिजिनेंद्रं, शांतिकरं शिरसा प्रणमामि। सर्व गणायतु यच्छतु शांति, मह्य परं

पठते परमां च ॥ ४ ॥ **अर्थ**—शांतिके करनेवाले जगत कर पूजित शांति भगवानको मस्तक नमाय कर नमस्कार करु हु यह । शांतिनाथ भगवान समस्त चार प्रकारके संघको और मुझ स्तुति पाठ पढनेवालेको शांति देवो । **वसन्ततिलका छंद**—येभ्यर्चितामुकुट कुंडलहाररत्नै ; शक्रादिभि· सुरगुणैस्तुतपादपद्मा , ते मे जिना प्रवरवंशजगत्प्रदीपा । स्तीर्थंकरा सतत् शांतिकरा भवंतु । **अर्थ**—कुमार अवस्था तथा राज्य अवस्थामे जिनको इन्द्रादिक देव मुकुट कुंडलहार रत्नादिक और आभरण वस्त्रादिक कर पूजे हैं, और कुल जिनका श्रेष्ठ हैं, ऐसे तीर्थंकर निरंतर मुझको शांति करानेवाले हैं । **इंद्र वज्रा छंद**—संपूजकानां प्रतिपालकानां, यतींद्र सामान्य तपोधनानां । देशस्यराष्ट्रस्यपुरस्यराज्ञ करोति शांतिं भगवान् जिनेंद्र ॥ **अर्थ**—हे भगवान जिनेंद्र आप पूजन करनेवाले और पूजन करनेवालोंके सहायक और यतींद्र अर्थात् आचार्य उपाध्याय और सामान्य तपस्वी और देश नगरके राजाओंके विघ्नोंकी शांति करो । **छंद**—अशोक वृक्षः सुरपुष्पवृष्टि, र्दिव्यध्वनिश्चामरमासन च । भामंडलं दुंदुभिरातपत्र, सत् प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् । **अर्थ**—अशोक वृक्ष, देवनाओं कर करी हुई पुष्पवृष्टि, दिव्य ध्वनि, चामर, सिंहासन, भामंडल यह जिनेंद्र भगवान्के आठ प्रातिहार्य हैं । **स्रग्धरा छंद**—क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः । काले काले च सम्यक् वर्षतु मघवा व्याधियो यान्तु नाश ॥ दुर्भिक्ष चौरमारीक्षणमपिजगतामास्मभूज्जीवलोके । जैनेंद्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ॥ **अर्थ**—समस्त प्रजाके क्षेमकुशल होहु और भूमिपाल अर्थात् राजा

बलवान् और धर्मात्मा होहु और समयपर यथेच्छ मेघ बरसै और व्याधिका नाश हो, दुर्भिक्ष चोर मरी जगतमें कदाचित् न होवे और समस्त जीवोंको सुख देनेवाला जिनेंद्र भगवानका धर्मचक्र सदा अखंड प्रवर्तो ॥

श्लोक—

प्रध्वस्तघातिकर्माणः, केवलज्ञानभास्कराः ।
कुर्वन्तु जगतः शांतिं, वृषभाद्याः जिनेश्वराः ॥

अर्थ—विध्वंस किये हैं घातिया कर्म जिन्होंने और केवल ज्ञानकर दैदीप्यमान हैं ऐसे श्रीवृषभादि जिनेश्वर जगतमें शांति करो। **अभीष्ट प्रार्थना**—प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः। **अर्थ**—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोगको नमस्कार करू हूं। **मन्दाक्रांता छंद**—शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनं। सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्वे, संपद्यन्तां मम भव भवे यावदेतेऽपवर्गः। **अर्थ**—जब तक मुझको मोक्ष न होवे तब तक मुझको यह सामग्री प्राप्त रहै। अर्थात् शास्त्रका अभ्यास रहै, जिनेंद्र भगवानकी स्तुति करता रहूं, सदा काल सत् पुरुषोंकी संगति रहे और सत्य आचरणके धारी पुरुषोंकी ही बातचीत करता रहूं, किसीका दोष कहनेके वास्ते मेरा मुंह बंद रहे। मेरा वचन ऐसा रहे जो सर्व प्राणियोंके हितरूप और प्रिय हो और आत्मतत्वकी भावना मुझमें रहे। **आर्या**—तव पादौ मम हृदयं मम हृदयं तव पदद्वये लीनं। तिष्ठतु जिनेंद्र तावत् यावत् निर्वाणसंप्राप्तिः ॥ **अर्थ**—हे भगवान्! जब तक मुझको मोक्ष न मिले तब तक आपके दोनों चरण मेरे हृदयमें बसे रहें और मेरा हृदय आपके दोनों चरणोंमें लीन रहे। **गाथा**—

अक्खर पयत्थहीणं मत्ताहीणं च जम्मये भणियं। तं खमउ णाण देवय मज्झ विदुक्खक्खय दितु । **अर्थ**–हे ज्ञानरूप देव ! मै अक्षरहीन और मात्रा हीन हू, मुझपर क्षमा करो, मै अपना अपराध क्षमा कराकर मनकी शुद्धता करू हू, मेरे ससारके दु खोंको क्षय करो ॥ **गाथा**—दुक्खक्खउ कम्मक्खउ समाहि मरणं च बोहिलाहोय । मम होउ जगत बधव तव जिणवर चरण सरणेण । **अर्थ**—हे जगत्के बाधव ! तुम्हारे चरणोंके शरणके प्रतापसे मेरे संसारी दु खोंका क्षय, कर्मोंका क्षय होवे और समाधिमरण होवे और रत्नत्रय बोधका लाभ होवे । **गाथा**–दुक्खक्खउ कम्मक्खउ बोहिलाहो सुगई गमण । सम्म समाहि मरणं जिणगुण संपत्ति होउ मज्झं । **अर्थ**—मेरे दु खोंका क्षय हो, कर्मका क्षय हो, रत्नत्रयका लाभ हो, सुगतिमे गमन हो, समाधि मरण हो, जिनेंद्रके गुणोंकी सपत्ति हो । **विसर्जन**–ज्ञानतो ज्ञानतो वापि, शास्त्रोक्त न कृत मया । तत्सर्व पूर्णमेवास्तु, त्वत्प्रसादाज्जिनेश्वर ॥ **अर्थ**—इस पूजन करनेमे ज्ञानसे वा अज्ञानतासे शास्त्रोक्त जो कुछ नही किया गया हो तो हे जिनेन्द्र! आपके प्रसादसे यह समस्त पूरणताको प्राप्त होवे । **श्लोक**–आव्हाननं नैवं जानामि, नैव जानामि पूजनं। विसर्जन नैव जानामि, क्षमस्व परमेश्वर !। **अर्थ**—हे परमेश्वर ! मैं आव्हानन नहीं जानता हूं, पूजा करना नहीं जानता हूं, विसर्जन भी नहीं जानता हूं, मुझपर क्षमा करो। **श्लोक**-आहूता ये पुरा देवा, लब्धभागा यथाक्रमम्। ते मयाभ्यर्चिता भक्त्या, सर्वे यातु यथास्थितिं ॥ **अर्थ**–हे देव ! मेरे पूर्वभावनाके संकल्प कर आह्वानन किये यथाक्रम तिष्ठे तिनको मैंने भक्ति कर पूजे, अब सम-

न्त यथास्थान जावो। भावार्थ—इस प्रकार मात्रनिमें जैसे अह्वानन किया था तैसे ही विसर्जन किया। श्लोक॥ मन्त्रहीनं क्रियाहीनं, द्रव्यहीनं तथैव च। त्वद्भक्ति न जानामि, क्षमस्व परमेश्वर।

हजूरीपद राग सोरठ—हूं सेवक आयो तुम शरणें, सार कीजो हमारी प्रभूजोर॥ हूं सेवक०॥ टेक॥ प्रथम तिर्थंकर आदि जिनेश्वर युगलाधर्म निवारीर॥ हू सेवक०॥ भ्रमतां भ्रमता चौगति माहीं पायो हूं सेवा तुमारीर॥ हूं सेवक०॥ छयालीस गुण तुजमें दीसे, क्षमातणो भंडार रे॥ हूं सेवक०॥ सेवकने निज दर्शन दीजो कीजो, मुझ उपगारे॥ हूं सेवक ०॥

होरी—नैना सफल भये हम दरसन पायो आज॥नैना०॥ रोमरोम आनंद भयो है। अशुभ करम गये भाग॥ नैना०॥ काल अनादि गयो मुझे भटकता सर्यो न एको काज॥ नैना० २॥ अब हम जनम सुफलकर मान्यो। भैटे श्री जिनराज॥ नैना० ३॥ अब कछु चाव रह्यो नहीं मेरे। हय मय रथ और पाय॥ नैना० ४॥ रामदास ए मागत है, जिन चरननको दास॥ नैना ४॥ सफल भये हम दरसन पाये आज॥ ५॥

शांतिनाथकी बधाई—शांतिनाथनी बधाई बाजे छे। दीनानाथनी बधाई बाजे छे। माता ऐरादेवीना जाया छे॥ शांति० टेक॥ सहनाई चौ नौबत बाजे और घनाघन गाजे छे॥ शांति०॥ इंद्राणी मिलि मंगल गावें मुनियन चौक पुरावे छे॥शांति०॥ सेवक जिनजीसे अरज करे छे, चरनसे सेवा प्यारी लागे छे॥ शांति०॥ **पद दूसरा**—घड़ी दो घड़ी मंदिरजीमें आया करो, आया करो मन लाया करो॥ घड़ी०॥ जगधंधेमें सब दिन

खोयो । कुछ तो धरममें बिताया करो ॥ घडी० ॥ ज्यावरमें सब धन खोयो कुछ तो धरममें लगाया करो ॥ घडी० ॥ कहे सुजनी सुन भव प्राणी । आवो तो मनको लगाया करो ॥ घडी दो घडी मंदिरजीमें आया करो ॥ गजल—मदमोहकी मगन पी बगन हो रहा । करना है वेहिसाब ना किताबमें कहा ॥ध्रु० ॥ देना नहीं जवाब तुझे क्या गरूर है । ये वक्त चला जायगा इसकी जरूर है ॥ १ ॥ मद० ॥ झूठ मजबके माहि तूने सिरदा लई । अपने अज्ञानसे ही तूने आपदा लई ॥ २ ॥ मदमोह० ॥ जब जडगी ज-वानी ये जाहर जहानमें । ये मोहकी मगन नहीं आनी है कममें ॥ मदमोह० ॥३॥ निज हालमें कमाल हो सम्हाल तो करो । सब साहबी तुम्हारी है बुधजन कुगा करो ॥ मदमोह० ॥ ४ ॥ गजल—ज्ञान वृज मन चेत सयाने लगन लगी फिर हटना क्यारे ॥ ध्रु० ॥ जगमें आके हिनका सौदा सस्ता महगा कर ले प्यारे ॥ ज्ञान० ॥ १ ॥ प्रेम पकर जिनराज चरनसे, ध्यान लगा फिर हटना क्यारे । ज्ञान० ॥२॥ काल अनन्ता सुख दुख पाया, उसकी याद तू कर ले प्यारे । ज्ञान० ॥ ३ ॥ बालक है सुन मन मिता, ज्ञानामृत रस पीले प्यारे । ज्ञान० ॥ ४ ॥ राग होरी—आज तन मन न्वेलत होरी । होरीरे आज तन मन न्वेलत होरी ॥ध्रु०॥ पुद्गल जुदो जुदो यह चेतन, उलझ रह्यो ए कठोरी. जैसो दधिमें माखन उलझो जल बिच कमल लखोरी, ज्ञान ऐसो सो जुदोरी ॥ आज० ॥१॥ ज्ञान बिलौनी कर ले लौनी, तासे जाय मथोरी, जो जो साहबसे मिलवो चाहे याही जतन सु करोरी, और बिन नाहिं मिलोरी ॥ आज० ॥ आठ पहरमें साठ बजत है, तामें एक गहोरी।

उनसठमें सब कारज कर लो, एकमें एक गहोरी, मान विनती एं हमारी ॥ आज० ॥ ३ ॥ या विधसे जो प्रभुको ध्यावे, पावे सुख घनोरी । दौल नमत थिर मन करके, साहबसे हिल जोगी, नाहीं और किसेरी ॥ आज तन मन खेलत होरी ॥ ४ ॥

चोवीस महाराजकी आरती—राग केरवामें । जय जय आरति श्री जिनदेवा, तुम चरणाम्बुज करूं नित सेवा । करूं नित सेवा करूं नित सेवा । जय जय आरति श्री जिनदेवा ॥ ध्रु० ॥ ऋषभ अजित सम्भव अभिनंदा, सुमति पदम प्रभु सुपारस चन्दा । जय जय० ॥१॥ पुष्पदंत शीतल श्रेयासा, वासपूज विमल गुण खासा । जय जय० ॥२॥ अनन्तनाथ धर्म जस उज्जल, शांति कुन्थु अरु मल्ल मुनिसुव्रत ॥ जय जय० ॥३॥ नमि नेम पारस प्रभु स्वामी, वर्द्धमान मेरा अंतर्यामी ॥ जय जय० ४ ॥ दोहा ॥ जिन मूर्तिकी आरती, पढे सुने जो कोय । आरति तुम सिर पड़ लहै, धर्मदास कहै जोय ।

पूजनकी समाप्ति समयका पद ।

राग कटाव—पूरण पूजन हुवा आनंदमें । वादित्र बजे धुन लगी गगनमें । जे धुन लगी गगनमें, झुंनुंनुंनुं झुनुंनुंनुं झाज बाजती । किडीकट किडीकट ताल बाजती, थुंथुंथुंथुं गंधर्व नाचते, झुम झुम झुम झुम घुंघरू बाजते, सम तालमें मृदंग बाजते । धोंधोंधोंधों नोबत बाजे, कडकडकड़कड़ कड़धा बाजे (३) धीनाकिटधा (३) तत थ्यांग थिमिकिटधा ॥ धीनाकडधा (३), ऐसी तरेके बाजित्र बाजे, हुंह भयो मंदरके माहीं । जैजै बाणी हुई अकाशमें, जैजैजैजैजैजैजै जैजैजै ।

सुर निज धाम सिधाया हो ॥ शांति० ॥ ९ ॥ षट् दशमां तीर्थंकर जानो पंचम चक्रि कहाया हो, कंचनवरनकाय जिनवरकी दिपैकाम कुमारा हो ॥ शांति० ॥ १० ॥ दर्शनज्ञान अरू सुख वलाबल अनंत तुमारा हो । केवलज्ञान भयो जब प्रभुको धरम पथ बतलाया हो ॥ शांति० ११ ॥ समेदाचल ध्यान धारकर अष्ट करम निर्वारा हो । सेवक ऊपर महिर करीने । आवागमन निवारो हो ॥ शांति० ॥ १२ ॥

तीन गुण धारक जीव देवलोक बराबर कथा जाता है । गाथा । परपरिवादेमूका, पर रमणी निरक्षणेत्यंधा । परदोषश्रवणबधिरा, ते पुरुषा देवसदृशा ॥ **अर्थ**—दूसरेकी बुराई कहनेमें गूगा है अर्थात् मुंहसे बोलता नहीं । पर रमणी परस्त्रीकू आखोंसे देखनेमें अंधा समान है, परदोष श्रवणबधिरा अर्थात् पराये दोष यानें पराये अवगुण सुननेमें कानोंसे बहिरा समान है । ये तीनों गुणवाला जीव देव समान गिना जाता है ॥ **अथ १०८ मणिका (माला) का व्योरा**—समरम समारम आरंभ=३×मन वच तन=३×कृत कारित मोदन=३×करके क्रोधादि चतुष्टय धरके=४=१०८ सत आठ जु इम भेदनतें, अघ कीने पर छेदनते इत्यादि ये १०८ और सम्यक् दर्शन ज्ञान और चारित्र ये तीन मिलकर १११ होते हैं । सो १०८ पापाश्रवके नाशार्थ और सम्यक् रत्नत्रयकी प्राप्तिके अर्थ माला नवकार गिनते हैं ।

णमोकार मंत्रमें ३५—१६—६—५—४—२ वा १ में ॐ इन ७ प्रकारके मंत्रोंमें जैसी थिरता हो उसी माफिक करना चाहिए एक जाप तो सर्व जीवको मन वचनकायकी शुद्धता करके करनेकी

जरूरत है । इसके आसन दो है । एक पद्मासन जैसे भगवानकी मूर्ति विराजमान है । दूसरा खड्गासन याने खडे खडे जाप करना ध्यान करना, ये दोनों आसन कुछ कठिन मालूम पड़ें तो अर्द्ध पल्यंकासन जिसको अर्ध पद्मासन भी कहते हैं करे । जैसे डाबा (बाया) पाव नीचे और जमणा (दहिना) पाव ऊपर इस आसनसे जाप करना चाहिए ।

कौनसे स्थानपर ध्यान करना—जिन गृह अथवा शून्य गृह, मठगिरि—गुफा वन, बगीचा, स्त्रीजन, पशु, बालक आदिसे दूर निर्जन स्थानमे ध्यान करना चाहिये ।

जाप करनेके सात प्रकार—पेंतीस अक्षरका मंत्र-णमो अरहंताणं । णमो सिद्धाण । णमो आइरियाणं । णमो उवज्झायाण । णमो लोए सव्वसाहूण ॥१॥ **सोलह अक्षरका मंत्र**—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु अर्थात् अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नम ॥२॥ **छ अक्षरका मंत्र**—अरहत सिद्ध ॥३॥ **पांच अक्षरका मंत्र**—अ सि आ उ सा । यह पंच परमेष्टीके आदि अक्षर हैं ॥४॥ **चार अक्षरका मंत्र**—अरहत ॥५॥ **दो अक्षरका मंत्र**—सिद्ध अथवा अर्ह ॥६॥ **एक अक्षरका मंत्र**—ॐ॥७॥ इसमें पंच परमेष्टीके आदि अक्षर सर्व है। जैसे अरहतका **अ**, अशरीरी अर्थात् सिद्धका **अ**, आचार्यका **आ**, उपाध्यायका **उ**, मुनिका **म**, ऐसे पाच अक्षर **अ अ आ उ म** मिलकर ओम् अर्थात् ॐ हुवा ऐसा सिद्ध है । **गाथा**—अरहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झाया मुणिणो । पढमक्खर णिप्पण्णो ओंकारो पंचपरमेट्ठी ॥१॥

श्रावके १७ नियम—भोजने षटरसे पाने, कुंकुमादिविलेपने । पुष्पताम्बूलगीतेषु, नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके ॥१॥ स्नानभूषण वस्त्रेषु, वाहने शयनासने । सचित्तं च दिशा त्याज्य, मेतत् सप्त दशानि च ॥ २ ॥ श्लोक—भोजनवाहनशयनस्नानपवित्रागरागकुसुमेषु, ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसङ्गीतगीतेषु ॥ १ ॥

सप्तवार एक एक रस छोड़नेकी विधि—अडिल्ल छंद—नमक दीत शशि हरि भौम मी गेहरे। घृत बुध गुरू दूध दही भृगुपरहरे ॥ तेल तजे शनिवार वरत पाल्या गहे, इम मरजादा नेम धरे भवि निरवहे । **अर्थ**—१ रविवार (इतवार)को नमक छोडकर भोजन करना, २ सोमवारको साक भाजी हरी वस्तुका त्याग करना, ३ मगलको गुड शक्कर मिठाईका त्याग करना, ४ बुधको घी छोडना, ५ गुरू (बृहस्पति) को दूध तथा दूधकी बनाई चीज न खाना, ६ शुक्रको दही छांछ मट्ठा छोड़कर भोजन करना, ७ शनिवारको तेल छोड़कर भोजन करना उचित है ।

अथ २२ अभक्ष—छप्पयछंद—ओरा घोर बरा निशिभोजन बहु बीजा बेंगण संधान । बड पीपर ऊंमर कठूमर पाकर फल ज्यों होय अजान ॥ कद मूल मांटी विष आमिष मधु माखण अरु मदिरापान, फल अति तुच्छ तुषार चलितरस, जिनमत ये बाईस बखांण ॥ **चोपाई**—बाईस अभक्ष जिन गाये । सोमी निशिदिन भुंजाये । कुछ भेदाभेद न पायो । ज्यों त्यों कर उदर भरायो ॥ **अर्थ**—ओला, जलेवी, रात्रिभोजन, बहुबीजा, बेंगन, अचार, पीपल, बड, ऊमर, कठूमर, पाकर, अजाने फल, कन्दमूल, माटी, विष, मांस, शहद, माखन, मद्य, छोटे फल, चलितरस, और ओस अर्थात् बरफ

ये २२ अभक्ष भगवानने कहे हैं । लौट (आटा) की मरजाद—दोहा ॥ चौमासे दिन तीनकी, सीत सात दिन जोय । ग्रीष्म समय दिन पाचकी यह मरजादा होय ॥

संतोष कहां करना—श्लोक—संतोष त्रिषु कर्तव्य स्वदारे भोजने धने । त्रिषु नैव न कर्तव्यो दाने चाध्ययने तप ॥

तीर्थंकरके गणधरोंकी संख्या—छप्पय छंद-चौरासी, अस्तनवे, पाचसत, इसौ, इकोत्तरी, सौ सोलह, सौ ग्यारह, पचाणु, त्राणु, अठ्यासी । इक्यासी, सत्तरसात, छचासठ, पचपन, हीसे । पचास, चालिस होय, छत्तीस, पैंतीस, तीसे । अठाईस अठारह सतरह, ग्यारह दस ग्यारह कहे । चौवीसोंके गणधर सबे, चौदासौ बावन कहे ।

शीलकी नव बाड़—कवित्त—तियथलवास प्रेम रुचि निरखन दे परिछय भाषन मधु बैन, पूरव भोग केलरस चिन्तन गुरु आहार लेन चित चैन । करि शुचि श्रृंगार बनावत तिय परजंक मध्य सुख सैन मनमथ कथा उदर भर भोजन ए नव बाड जानि मन जैन ।

मुनि महाराजका कुटुंब परिवार—काव्य-धैर्यं क्षमा पिता च जननी, माता सु संयमम् । सत्य सुपुत्र दया च भगनी वैराग गृहनी । सय्या सुभूमि दिगोपवशनं ज्ञानामृत भोजनं । हे भव्यान् कुटुंब कम्मक्षयं वियोगिन ।

श्वेताम्बरकी उत्पत्ति—छप्पय छंद-नव कोटि मारवाड़ नगर पाल्हणपुर सोहिये, देश पड्यो दुकाल बरस तो बारन लहिये । भ्रष्ट थया आचारज, घर घर भिक्षा मांगी, ए शुं काम, धरमनी आज्ञा भागी इम करतां ऊबड़ो हुवो, साधु एक त्यहां मुवा । संवत एक बिडोत्तरे (१०२) दिगम्बरसे श्वेताम्बर थया ।

यज्ञोपवीत बदलनेका मंत्र—ॐ नमः परमशान्ताय शान्तिकराय पवित्र कृतायार्हं रत्नत्रयस्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमः स्वाहा ।

पंच परमेष्ठी तिलक स्थान—अर्हं ति ललाटे च सिद्धे च हृदये तथा आचार्यो शोभने कंठे, पाठके दक्षिणे भुजे । साधुश्च वाम भागेषु, पंचस्थाने प्रकीर्तितम् ।

तेरापंथीकी उत्पत्ति—पंडित बखतरामजी कृत बुद्धि-विलास ग्रंथमें—अनेक गच्छोंका वर्णन करते हुये कहा है—दोहा—इस ही गच्छमें निकस्यौ, नूतन तेरहपंथ । सोलहसे तेरासीए, सो सब जग जानंत ॥ ६२१ ॥ विक्रम संवत् १६८३ में तेरापंथकी उत्पत्ति जयपुर नगरमें हुई है ।

दश कुदान—दोहा—गो गजरथ दासी तनु, वनिता ने क्ली गेह । हेम तुरग गौ तनु, तिलदान दस एह ।

सुदान—दोहा—आहारदान प्रथमो कह्यो, औषध दूजो-दान, शास्त्रदान तीजो सही. अभय चतुर्थ प्रमाण ॥१॥ यश लीजो संसारमें, कीजो परउपकार । दया धर्म चित राखजो, यही चलेंगे लार ॥ २ ॥

चौवीस कामदेव—(अत्यंत रूपवानपुरुष) १ बाहुबली, २ प्रजापती, ३ श्रीधर, ४ दर्शनभद्र, ५ प्रसेनचन्द्र ६ चंद्रवर्ण, ७ अग्नीयुक्त, ८ सनत्कुमार, ९ वत्सराज, १० कनकप्रभ, ११ मेघप्रभ, १२ शांतिनाथ, १३ कुंथुनाथ, १४ अरहनाथ, १५ विजयराज, १६ श्रीचंदजी, १७ नलराजा, १८ हनुमंत, १९ बलिदान, २० वसुदेव, २१ प्रद्युम्न, २२ नागकुमार, २३ जीवंधर,

निगोदको संदेशो बेग आयो है। खाय चलो गांठिको कमाई कौड़ी एक नाहीं तो सो मूढ दूसरो न दूजो कहूं पायो है। पूरब ही पुन्य कहूं किये हैं अनेक विधि ताको फल उदे आयो नर देह पाई है। इहां आये विषे रस लाग्यो अतिनीको तोह, ताके संग केलि करी बहु निधि पाई है। अब कहां गती है है चिदानंद राम चलवेकी थिति सांज भोर निकट आई है। साथ कौन सकलनको कछू लेत मूढ आगे कहां तोहि मुख सेज ईईको बिछाई है॥ **दोहा**—दो दो लोचन सब धरे, मन नही मोल कराय। सम्यकदृष्टा जौंहरी, बिरलो यह जग माय।

बुढ़ापा सवैया ३१ सा—बालपने बाल रह्यो पीछे गृह भार बह्यो लोक लाज काज बाध्यो पाप न कोढे रहे। अपनो अकाज कीनो लोकनमे यश लीनो, परभौ बिमार दीनो विषै बस जे रहे। ऐसे ही गई बिहाय अलपसी रही आयु नर परजाये यह अँधकी बटेर है। आये सेत भैया अब काल है अवैया अहो जानरे सयाने तेरे अजौं हू अँधेर है॥ **राग उपदेशी**—मेरी मेरी करतां जनम गयोरे-जनम गयो कछु थिर नां रह्योरे॥ तेरी० ध्रु०॥ गर्भ बास तेने कौल कियो सो बाहर आये भूल गयोरे॥ तेरी०॥ बालकपन खेलनमें खोयो ज्वानीपन तिरिया संग धायोर। तेरी मेरी करता करतां सारो जनम वातोंमें गयोरे॥ २॥ वृद्ध हुवो जब कपन लागो कभी न लियो तुने श्रीजीको नाम रे॥ तेरी मेरी० ३॥ ज्ञान कहे जिनराज आरा हो जनम मरण भय दूर टरेरे॥ तेरी मेरी० ४॥

नव गाठ याने नव रकमकी जाप करनेकी माला (नकारवाली) होती है-**चोपाई**—प्रथम फटिक मणीकी माल, रजत सुवर्ण सुरंग प्रवाल, जीहा पोता रेशम जाण, कमल बीज अरु सूत बखाण।

तिलक ६ प्रकार-श्लोक—अर्धचंद्रार्धचन्द्रादि पीठ-चक्र तथैव च । तिलक चेति षोढा स्यात् । चंदनेन प्रकीर्तनं ।

जलगालन क्रिया—श्लोक-मुहूर्त गलित तोय, प्रासुक प्रहरद्वय । उष्णोदकमहोरात्रं पश्चात्सम्मूर्छन भवत् ॥ १ ॥

अडिल्ल छंद—छाणो पाणी एक मुहूर्त जोग्य है प्रासुक कियो प्रहर दोइ सु विवेक है । अग्नि कियो जो उष्ण रहे वसु जाम है । मर्यादा उपरांत जीव हु ताम है ॥ **अर्थ** ॥ मात्र छाना हुवा पानी एक मुहूर्त पर्यंत कामकाजमें लेना उपरांत उसमें सन्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं । प्रासुक-छाने हुवे पानीमें लवंगादि चूर्ण अथवा अन्य कषायली वस्तु डाली हो तो वह प्रासुक जल दो प्रहर पर्यंत कामकाजमें लेना, पश्चात् सन्मूर्छन उत्पन्न हो जाते हैं । छाना हुवा जल उसी वक्त, कडक तपाया हो वह जल एक दिन और एक रात्रितक कामकाजमें लेना, २४ घंटे बाद फिर उसमें सन्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं ।

जिन प्रदक्षिणा फल—**श्लोक**—यानि यानि कानीव पापानि पूर्व जन्मनि, तानि तानि च नश्यन्ति प्रदक्षिणे पदे पदे ।

नित्य पाठ—भक्तामरमिधंस्तोत्र, तथा कल्याणमंदिरं । एकीभावं च भूपालं, विषापहरणं तथा ॥ १ ॥ सहस्रनाम देवस्य स्तोत्रं सर्वोत्तम किल । स्थानं तत्वार्थशास्त्रस्य. मनन्तत्वसमन्वितं ।.२॥ एतानि सप्त नामानि, ये पठति जिनालये । स्थान लभते सौख्य स्य नात्र संदेहकारण ॥ ३ ॥

जोतिष मंडलकी ऊंचाई—छप्पै छंद—सातशतक अरु नवे तासुपर तारे राजे । ता ऊपर दश भानु, असीपर चन्द्र

विराजे । चार नखत, बुध चार, तीनपर शुक्र बतायो । तीनगुरू कुज तीन तीनपर शनी ठहरायो । इम नौसे जोजन भूमिसे, जोतिष चक्र बखानिये । इकसौ दस जोजन गगनमें, फैलि रह्यो परमानिये ॥

अर्थ—चित्र पृथ्वीसे ७९० योजन उचाई पर सब तारोंके विमान है उसके उपर ९ योजन ऊंचे पर केतुका विमान है, अर केतुके विमानसे १ योजन ऊंचा सूर्यका विमान है सूर्यसे ८९ योजन ऊपर राहुका विमान है, राहूसे १ योजन ऊपर चंद्रका विमान है, सूर्यचद्रके विमान अति (शुक्ल) वर्णके है अर राहू केतूके विमान नीलवर्णके हैं। जिस वक्त सूर्य अरु केतूके या चंद्र अरु राहुके विमान बराबर चलते हैं,उस वक्त ऊपरके विमान छिपे जाते हैं (नीचेवालेको नही दीखते) इसीसे ग्रहण कहा जाता है। चद्रमासे ४ योजन ऊपर अठाइस नक्षत्रोंके विमान हैं। नक्षत्रके ४ योजन ऊपर बुधका विमान हैं। बुधसे ३ योजन ऊपर शुक्रका विमान है। शुक्रसे ३ योजन ऊपर गुरु (बृहस्पतिका) विमान है। गुरुसे ३ योजन ऊपर कुज (मंगल)का विमान है। मंगलसे ३ योजन ऊपर शनिका विमान है। चित्रा पृथ्वीसे भद्रशाल बनसे शनिके विमान तक नवसे ९०० योजन उचाई हैं। भूमिसे ७९० योजन उंचाई तक शून्य आकाश ही है अरु इसके ऊपर अर्थात् तारेके विमानसे शनिके विमान तक ११० योजनमें ज्योतिषमंडल फैल रहा है। अढाई द्वीपमें जितना ज्योतिषमंडल है तितना ध्रुवके तारे बिना मेरु पर्वतको ११२१ योजन छोड दूरसे प्रदक्षिणा करते हैं—रात्रि दिन भ्रमण करते हैं।

१ ग्रहण उसे कहते हैं। उस वक्त अन्यमती लोग स्नान करते हैं, दान करते हैं, ऐसा जैनधर्मीको करनेकी जरूरत नहीं है।

किंचित विश्रांति नहीं है। अरु अढाई द्वीप विना असंख्यात द्वीप-समुद्रके सब ज्योतिषमंडल हैं वे जहाके तहा अवस्थित (स्थिर) हैं तहां रात्रि दिनका भेद नही है। अढाई द्वीपके वाहर मेरु पर्वत नहीं है। सर्व जोतिष मंडलके विमान अनादि कालके हैं अरु अनत कालतक रहेंगे, इनका अत (नाश) नहीं है, परन्तु ज्योतिषी विमानमे जो देव हैं उनकी जघन्य आयु १०००० और उत्कृष्ट १ पल्यके आठवें भाग मात्र है। वह पूरा होय जब उनका अंत (काल) होय, तब तत्क्षण कोई मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्या तीर्थ-यात्रा करके भ्रमनेवाला मरके ज्योतिषीदेव होय तहां उपजता है। सम्यक्ती जीव भवनत्रक (भवनवासीदेव, व्यंतरवासीदेव, ज्योतिषी देव) में नहीं उपजते हैं। सम्यक्ती स्वर्गमे मुख्य देव होय हैं। वाहनके देवमे सेवकदेवमें नहीं होय हैं। **भावार्थ**—ज्योतिषी-देव सम्यक्त ग्रहण करि सके परन्तु सम्यक्ती जीव मरकर ज्योतिषीमें नहीं उपजे है। जिस ज्योतिषी देवको सम्यक्त हुआ है सो अपने विमानके अकृत्रिम जिन चैत्यालयकी प्रतिमाकी पूजा स्तुति वंदना भक्ति करते हैं। अर जिसको सम्यक्त नहीं वे हुआ नहीं करते है।

अढाई दीपके ज्योतिषमंडलकी संख्या—कवित्त—
एक चद्र एक सूर्य अठासी, ग्रह नक्षत्र अठाइस जान। छ्यासठ सहस पिचहत्तर नवसौ, कोडा कोड़ी तारे मान। इनसो वत्तिस चंद्र यही विधि, ढाई द्वीपमध्य परवान। सब चेताले प्रतिमा मंडित, वदन करौं जोरि जुगपान। **अर्थ**—जोतिषी देव पांच प्रकारके (चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारे) हैं, उनमें चंद्र इन्द्र है। अरु सूर्य प्रतींद्र है। १ चंद्र, १ सूर्य,

८८ ग्रह, २८ नक्षत्र, ६६९७५ कोटाकोटी (कोट संख्यको कोट संख्या गुनना उसको कोटाकोटी कहते हैं) तारे हैं, ये सब एक चंद्रमाका परिवार है, ऐसा ही सब चंद्रमाका परिवार है, सो सबका हिसाबसे जानना। अढाई द्वीपमें १३२ चंद्र अरु १३२ सूर्य हैं। इसका हिसाब आगेके कवित्तमें है तहांसे देख लेना। सब ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें एक १ अकृत्रिम जिन मंदिर है उन प्रत्येक मंदिरोंमें १०८ रत्नमयी पद्मासन अति सुंदर जिन प्रतिमा हैं तिनको मैं दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूं।

सब द्वीप समुद्रके चंद्रमाकी गिन्ती—सवैया ३१ सा—जंबूद्वीप दोय चद्र, लवणांबुधीमें चार, धातु खंड बारे, कालोदधि बीयालीस हैं। पुष्करके भाग दोय, इधर बहत्तरि हैं उधर बारहसों चौसठ भाखे जगदीस हैं। पुष्कर जलधिसार दोसत ग्यारह हजार आगे आगे चौगुने बखाने जगदीस हैं। जेते लाख तेते बढ़े दूने दूने अधिक हैं, सब असंख्य चैत्याले बंदन मुनीस हैं।

अर्थ—जंबुद्वीपमें २ चंद्र, लवण समुद्रमें ४ चन्द्र, धातकी खन्डमें १२ चन्द्र, कालोदधिमें ४२ चन्द्र है। पुष्कर द्वीपमें मानुषोत्तर पर्वत पड़ा है मानुषोत्तर पर्वतके इस ओर ७२ चंद्र हैं इहातक अढाई द्वीप है, इसीमें १३२ चन्द्र हैं। अरु मानुषोत्तरके उस ओर (अर्ध पुष्करमें) १२६४ चन्द्र हैं। अर पुष्कर समुद्रमें ११२०० चन्द्र हैं। उससे आगे आगे समुद्रसे चौगुने समुद्रमें हैं अर द्वीपसे चौगुने द्वीपमें हैं, ऐसे असख्यात द्वीप समुद्र तक जानना इन असंख्यात सब विमानोंमें अकृत्रिम जिन चैत्यालय है तिनमेंके जिनबिंबको मुनि सदा बंदन करते हैं।

नौसे अडताळिस। व्यंतर ज्योतिष अगणित सकल चैत्यालय प्रतिमा नमों। आनंदकार दुखहार सन, फेर नहीं भव बन भ्रमों।

अर्थ—तीन लोकमें अकृत्रिम जिन चैत्यालय आठ क्रोट, छप्पन लाख, सत्तानवे हजार च्यारसे इक्यासी हैं। व एक २ मंदिरमें एक एकसौ आठ जिन प्रतिमाजी हैं। सबका जोड़ करिये तब ९२५५३२७९४८ नवसे पच्चीस कोटि, त्रेपनलाख सत्ताईस हजार नवसे अडतालीस, जिन प्रतिमा अकृत्रिम हैं, तिनको नमस्कार करूँ हूँ।

अष्ट प्रकारके व्यंतर देव—किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच हैं, इनके भवनमें असंख्यात अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं, अरु ज्योतिषी देव पांच प्रकारके चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा हैं, इनके विमानमें असंख्यात अकृत्रिम जिनचैत्यालय हैं, तिनमेंके असंख्यात जिनप्रतिमाओंको वंदू हूँ। कैसी हैं जिन प्रतिमा आनंदकी करनहारी हैं। अरु सब दुःखका नाश करनेवाली हैं, इनकी वंदनासे संसार वनमें भ्रमण होय नहिं।

नोट—तीन लोकमें अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं इनकी पूजा करना हो तो, जिन मंदिरमें आह्वानन करके पूजा करना। पृथ्वीकी व सूर्यादि ग्रहकी पूजा करना सो मिथ्यात्व है।

चौदह कुलकर—१ प्रतिश्रुति, २ सन्मति, ३ क्षेमंकर ४ क्षेमंधर, ५ सीमंकर, ६ सीमंधर, ७ विमलवाहन, ८ चक्षुष्मान, ९ यशस्वी, १० अभिचंद्र, ११ चंद्राभ, १२ मरुदेव, १३ प्रसेनचंद्र, १४ नाभि नरेंद्र।

१२ चक्रवर्तीके नाम—१ भरतचक्री, २ सगरचक्री, ३ मघवाचक्री, ४ सनत्कुमारचक्री, ५ शांतिनाथचक्री, ६ कुंथुनाथचक्री, ७ अरनाथचक्री, ८ सुभौमचक्री, ९ महापद्मचक्री, १० हरिषेणचक्री, ११ जयसेनचक्री, १२ ब्रह्मदत्तचक्री।

चक्रवर्तीके चौदह रत्न—१ सुदर्शन [illegible], २ सुनंदखड्गरत्न, ३ [illegible], ४ चर्मरत्न, ५ छत्ररत्न, ६ चूडामणिरत्न, ७ सेनापतिरत्न, ८ चिंतामणिरत्न, काकिणीरत्न, ९ [illegible] अश्वरत्न १० विजयार्धपर्वत गजरत्न, ११ [illegible] कुद्रस्थापति (भंडारी) रत्न, १२ विचित्रागार पुरोहितरत्न, १३ [illegible] वृद्धगृहपति (शिल्प) रत्न १४ सुभद्रानामक स्त्री रत्न।

चक्रवर्तीकी नव निधि—१ कालनिधि, २ महाकाल निधि, ३ पांडुनिधि, ४ मानवाख्यनिधि, ५ नैसर्पिनिधि, ६ सर्व रत्नाख्यनिधि ७ शंखनिधि, ८ पद्मनिधि, ९ पिंगाख्य निधि।

नव निधिका फल—१ कालनिधि—[illegible] विद्याको देती है, २ महाकालनिधि—सुवर्ण को [illegible] है, ३—३ पांडुकनिधि—सुगंधमय षट् रस भोजन देती है; ४—मानवाख्या-निधि—शस्त्रादि आयुध देती है, ५—नैसर्प्याख्यनिधि—शयन शय्या-सन मंदिरादि देती है ६ सर्व रत्नाख्यनिधि—मणि आदि रत्नोंको देती है, ७ शंखनिधि—वाद्य (बाजा) को देती है, ८ पद्मनिधि वस्त्रादि आभरणोंको देती है, ९ पिंगलाख्यनिधि—सुवर्णके आभूषण देती है।

नव वासुदेव (नारायण) के नाम—(तीन खंड पृथ्वीके राजा) १ त्रिपृष्ठ, २ द्विपृष्ठ, ३ स्वयंभू, ४ पुरुषोत्तम,

५ नरसिंह, ६ पुंडरीक, ७ दत्तदेव, ८ लक्ष्मण, ९ कृष्ण।

प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण)—१ अश्वग्रीव, २ तारक, ३ मेरक, ४ निशुंभ, ५ मधुकैटभ, ६ प्रल्हाद, ७ बली, ८ रावण, ९ जरासिंधु।

नव बलभद्र (नव नारायणके मंत्री)—१ विजय, २ अचल, ३ धर्मप्रभ, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ नंदि, ७ नंदमित्र, ८ रामचंद्र, ९ पद्म (बलिभद्र)।

नव नारद—(कलहको उपस्थित करनहारे)—१ भीम, २ महा भीम, ३ रुद्र, ४ महारुद्र, ५ काल, ६ महाकाल, ७ दुर्मुख ८ नरकमुख, ९ अधोमुख।

ग्यारह रुद्र (महादेव सरीखे क्रोधी तपस्वी)—१ भीम, २ जितशत्रु, ३ रुद्र, ४ विश्वानल, ५ सुप्रतिष्ठ, ६ अचल, ७ पुंडरीक, ८ अजितधर, ९ जितनाभि, १० पीठ, ११ सात्यकी,

सात नरकोंकी पृथिवियोंके नाम—१ रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा, ३ बालुकाप्रभा, ४ पंकप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तमप्रभा ७ महातमप्रभा।

सात नरकोंके नाम—१ घम्मा, २ वंशा, ३ मेघा, ४ अंजना, ५ अरिष्टा, ६ मघवी, ७ माघवी।

सोलह स्वर्ग—१ सौधर्म, २ ईशान, ३ सनत्कुमार, ४ माहेंद्र ५ ब्रह्म, ६ ब्रह्मोत्तर, ७ लांतव, ८ कापिष्ट, ९ शुक्र १० महाशुक्र, ११ सतार, १२ सहस्रार, १३ आनत, १४ प्राणत, १५ आरण, १६ अच्युत।

चौदह नदी—१ गंगा, २ सिंधु, ३ रोहित, ४ रोहिता-

आजीविकाभय, ४ चोरभय, ५ मरणभय, ६ वेदनाभय, ७ अकस्मात्भय।

चंद्रगुप्त राजाको दीखे हुवे १६ स्वप्न और उसका फल।

स्वप्न १—कल्पवृक्षकी फांदी टूटी हुई देखी।

फल—कोई भी राजा दीक्षा लेगा नहीं।

स्वप्न २—सूर्यका अस्त देखा।

फल—पंचम कालमें अंगपूर्वका ज्ञान न रहेगा।

स्वप्न—३ चंद्रमामें चलनीसम छिद्र देखे।

फल—जिनशासनमें अनेक मतभेद होंगे।

स्वप्न ४—बारा फणका सर्प देखा।

फल—बारा बरसका भारी दुष्काल पड़ेगा।

स्वप्न ५—देवोंका विमान पलटते देखा।

फल—पंचम कालमें चारणादि मुनि और विद्याधर आवेंगे।

स्वप्न ६—घूरेपर कमलोत्पत्ति देखी।

फल—वैश्य लोक मात्र जैनधर्माचरण करेंगे।

स्वप्न ७—भूत वृंदोंको नाचते देखा।

फल—इस पंचम कालमें मनुष्य चंडी मुंडी भैरों आदि नाना-प्रकारके कुदेवोंकी सेवामें अनेक जीवोंकी हिंसा करेंगे।

स्वप्न ८—सोन कीड़ा (जुगनू) चमकता हुवा देखा।

फल—जैन धर्म सम्यक् सविस्तार न रहते मिथ्या धर्मका फैलाव ज्यादा रहेगा।

स्वप्न ९—सरोवर बहुत करके सूखा हुवा देखा परंतु एक बाजू थोडा जल दिखाई दिया ।

फल—जिस ठिकानेमें जिन कल्याणक हुवे हैं उस ठिकानेमें धर्मकी अति क्षीणता रहेगी ।

स्वप्न १०—कनकपात्रमें कुत्तेको क्षीर खाते हुवे देखा ।

फल—उत्तम कुलमें रहनेहारी लक्ष्मी नीच कुलमें वास करेगी ।

स्वप्न ११—हाथी पर वानर (लंगूर) बैठा हुआ देखा ।

फल—पंचम कालमें नीच लोक राज्य करेंगे—क्षत्रिय राजा कोई न रहेगा ।

स्वप्न १२—समुद्र मर्यादा छोडता दीखा ।

फल—पंचम कालमें राजा लोक अन्याय और अनीतिसे भ्रष्ट हो पर वित्त कलत्रादि हारक होंगे ।

स्वप्न १३—महारथमें गायके बच्चे जुते हुवे देखे ।

फल—वृद्ध कालमें दीक्षा पालन न होगी और तरुणाईमें कचित् कोई दीक्षा लेगा ।

स्वप्न १४—राजपुत्र ऊंट पर बैठा हुआ देखा ।

फल—राजा लोक धर्म और दया न करके हिंसा करेंगे ।

स्वप्न १५—रत्न राशिमें मिट्टी (धूल) मिली हुई देखी ।

(फल) —राजा लोक निर्ग्रंथ मुनिका द्रोह करेंगे, और यति लोकोंमें परस्पर स्नेह न रहेगा ।

स्वप्न १६—दो काले हाथी टक्कर खेलते देखे ।

(फल)—मेघोंसे वर्षा कम होगी और मुनि सग्रन्थ हो जावेंगे ।

इति ।

जैन धर्मी लोगोंको व्रतके समय अन्तराय वर्जित भोजन करना चाहिये।

दृष्टिके अंतराय—हाड़, मांस, पू, रक्त याने लहू, और गीला चमड़ा, विष्टा, मरा प्राणी; इसमेंसे एक भी दृष्टिगोचर हो तो भोजनका त्याग करना।

स्पर्शके अंतराय—बिल्ली, कुत्ता तथा कोई भी पंचेंद्रिय पशु, सूखा चमड़ा, अमंगल (ऋतुवती) स्त्री वा नीच पुरुष स्त्री इनके स्पर्श होनेसे भोजन त्याग करना।

कानसे सुननेके अंतराय—देवकी मूर्ति भंग होगई। संत गुरूको दुष्टोंने दुःख दिया। शास्त्रजीका नाश हुआ और हिंसामय वचन कोईने कहा। इसमेंसे एक भी भोजन समय सुननेमें आया तो भोजनका त्याग करना। जो पदार्थ अपनेको खानेका त्याग है और वह पदार्थ विस्मरणसे खानेमें आ गया तो स्मरण होते ही भोजन त्याग करना चाहिये।

व्रतधारीको वर्ज्य वस्तु—मौनसे भोजन करना, ब्रह्मचर्यसे रहना, जमीनपर सोना, सचित्त वस्तु [पत्ता, भाजी (तरकारी) कच्चे फल] नहीं खाना, व्यापार धंधा छोड़ देना, किसी प्रकार पापाचरण नहीं करना, राग द्वेष छोड़ना; निदान (विषय सुखकी इच्छा) न करना, इस भांति नियम रखनेसे स्वर्गसुखकी प्राप्ति होकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्ति होगी। भोजनमें कंकर निकलनेसे मुनीश्वर अंतराय पालते हैं, कंकरका अंतराय गृहस्थ श्रावकोंको नहीं है। अंतराय आनेसे मुनीश्वर जल भी पीते नहीं और गृहस्थ श्रावक जल पीते हैं।

महादेव (शिव) किसको कहते हैं।

लावणी।

है देवनका देव निरंजन निराकार कैलाशपति। नमस्कार हम करते जिनको, ऐसा शिव है सुनो मति ॥ टेक ॥ नहीं मुंडकी माल गलेमें, नहीं अंगसे खाख जले। माथे चंद्रमा नहीं है जिनके। नहीं जटोंसे गंग बहे। सर्पनके नहीं भूषण वस्तर, नहीं नार है पारवती॥ नमस्कार० ॥१॥ नहीं राग नहीं दोष बैर नहिं प्रीति किसीसे रखते हैं। क्रोध मान माया नहीं जिनके, लोम रंच नहीं रखते हैं। ना मांगे ना जांचे किसीसे, हैं उदास संसार गति। नमस्कार० ॥ २ ॥ नहीं बेलपर चढे भूत बेताल नहीं जिनके संगे। झूठ वचन नहीं कहे नशा नहीं करे पियें नाही भंगे। नमस्कार नहीं करे किसीको वे स्वामी त्रैलोकपति ॥ नमस्कार ॥ ३ ॥ नहीं जनम नहीं मरन जरामृत :कालजालसे रहिते हैं, सदा सुखी शिवपुरके राजा शिवरमणीसे रमते हैं। चार चौकका छंद हमारा गंगाधर कहे सुनो मती ॥ नमस्कार० ॥ ४ ॥

दूसरी लावणी ॥

भक्त भंजन नमो निरंजन जै स्वामि त्रैलोकपति। शत इंद्रन कर पूजनीक जो सुरपति नरपति नागपति ॥ टेक ॥ रत्नत्रयकी माल गलेमें कर्म अंगकी खाक जले। जटा शीस गंगाकी धारा ध्यान चंद्रमा माथ धरे। तपके भूषण हैं अति पावन सुमत नार है पारवती ॥ शत० १॥ हित मित बोले बचन मित्र सम भाव समीसे रखते हैं क्रोध मान मायाको त्यागे लोम रंच नही रखते हैं। बनमें धाम नहीं काम जिन्होंको है उदास संसारगति ॥ शत०

२ ॥ नहीं बेलवे चढे भूत वेताळ धर्म दस है संगी । तनकी कुंडी मनका घोंटा अनुभव रस पीते भंगी । भवसमुद्रतारण जगमें जाहिर है स्वामी त्रैलोकपति ॥ शत इंद्रनकर पूजनीक जो सुरपति नरपति नागपति ॥ ३ ॥ ऐसा स्वामी आदीश्वर है जो कवि गावे उनका गुण । अपरंपार है महिमा जिनकी तीन लोकके वे राजान् कहते लक्ष्मणसिंघी सभामें वे स्वामी कैलाशपति ॥ ५ ॥ शत इंद्र०

महामुनिराजका पद।

राग आशावरी

सोहे जैनका रागी अवधु सोहै जैनका रागी, जाकी सुरति मुक्तसे लागी, अवधू० ॥ साधु श्रेष्ठ करमसु रूठे रतन तीन रखवाला । सोहं सबका धागा साधे, जपे अजपा माला ॥अवधू० १॥ गंगा जमना मध्य सरस्वती, अधर बहे जलधारा। करी स्नान मगन है बैठे, तोड़ कर्मदल भारा अवधु० ॥२॥ आप अभ्यंतर जोतिविराजे, बंकनाल है मूला । पश्चिम दिशाकी खिड़की खोलो, तो बाजे अणहदतुरा ॥ अवधु० ३ ॥ पंचभूतका भर्म मिटाया छट्टे माहीं समाया, विनय प्रभुसे जोत मीली जब फिर संसारन आया ॥अवधु ० ४॥

पद दूसरा।

राग आशावरी

वैराग बेटा जाया वाने खोज कुटुंब सब खाया ।अवधु०। जेने ते खाई ममता माया, सुखदुख दोनों भाई। काम क्रोध दो मंत्री खाये, खाई तृष्णा बाई। अवधु० १॥दुरमति दादी मत्सर दादा, मुख देखत ही मुआ मंगलरूपी बधाई बाजीये जब बेटा हुआ ॥अवधु० २॥ पुन्य पाप पडोसी खाई, मान काम दोउ मामा, मोह नगरको राजा खायो, पीछे

न्यग्नाचर्याविवो निषद्याख्यौ। द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्। संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन।

अलग (जुदे जुदे) नाम।

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, नग्नता, याचना, अरति, अलाभ, मच्छरादिकोंका काटना, कुवचन, रोगोंका दुःख, शरीरकामल, तृणादिकका स्पर्श, अज्ञान, अदर्शन, प्रज्ञा, सत्कार पुरस्कार, शैय्या, चर्या, वध बन्धन, निषद्या, स्त्री। भावार्थ—उपर्युक्त बावीस परीषहोंका जीतना मुनियोंका परमकर्त्तव्य है। इन परीषहों अर्थात् उपसर्गोंके सहनेसे मुनि अपने मार्गमें निश्चल रहता है, और क्षण क्षणमें अनन्त कर्मोंकी निर्जरा करता है। इन परीषहोंके सहनेमें किसी प्रकार कायरता धारण नहीं करना चाहिये। यदि चित्त किसी प्रकार कायर होनेके सन्मुख होवे तो वस्तुके यथार्थ स्वरूपका विचारकर (जैसा प्रत्येक परीषहके वर्णनमें बतलाया जावेगा) उसे उसी समय सुदृढ करना चाहिये, परीषहोंका जय किये बिना चित्तकी निश्चलता नहीं होती चित्तकी निश्चलता बिना ध्यानावस्थित नहीं हो सक्ता, ध्यानावस्थित हुए बिना कर्म क्षय नहीं होसकते और कर्मोंके दग्ध हुवे बिना मोक्षकी प्राप्ति असंभव है। अतएव मोक्षाभिलाषी और संसार दुःखसे भयभीत मुनियोंका पूर्णतः और गृहस्थोंका यथाशक्ति परीषह जय करना परम कर्त्तव्य है।

१ क्षुधापरीषह जय—भूखकी वेदना होनेपर उसके वशवर्ती न होकर दुःख सह लेनेको कहते हैं। जिस समय मुनिको क्षुधाकी तीव्र वेदना होवे उस समय उन्हें सोचना चाहिये कि हे जीव! तूने अनादि कालसे संसार परिभ्रमण करके अनंत पुद्गल सपु-

होंका भक्षण किया है तो भी तेरी भूख न गई। तूने नरक गतिमें ऐसी तीव्र क्षुधा वेदना सही है कि जिसको सुनकर चकित होना पड़ता है अर्थात् तुझे वहां सुमेरू पर्वतकी बराबर अन्नराशि भक्षण करने योग्य क्षुधा थी परंतु एक कण मात्र भी नहीं मिलता था। मनुष्य तियचगतिमें बंदीग्रहमें पड़े २ तूने अनंतबार क्षुधा सहन की है। फिर अब मुनिव्रतको ग्रहण करके अत्यंत स्वाधीन वृत्तिको धारण करते हुवे भी तू इस अल्प वेदनासे कायर होता है। देख, अन्य मुनीश्वर पक्षोपवास, मासोपवास, कर रहे हैं उन्हें क्षुधाका दुःख नहीं है फिर तुझे क्यों होना चाहिये। तुझे अब अनन्तबार किये हुवे भोजनकी लालसा छोडकर ज्ञानामृतका भोजन करना चाहिये इत्यादि विचारकर क्षुधाजनित दुःखको सह लेना सो क्षुधापरीषह जय है।

२ तृषा परीषह जय—प्यासकी असह्य वेदना होनेपर उसके वशीभूत होकर जलपानादिक न करके दुःख सह लेनेको कहते हैं। गीष्म ऋतुमें गिरि शिखरपर आरूढ़ मुनिको उपवासोंकी तीव्र उष्णतासे जिस समय तृषा वेदना होती है उस समय वे विचारते हैं—हे जीव! तूने संसारमें अनेक बार जन्म धारण करके अनेक वार अनेक गतिमें अतिशय दुःसह तृषा वेदनाका सहन किया है फिर इस थोडीसी वेदनासे कायर क्यों होता है? मुनिकी स्वतंत्र सिंहवृत्तिका आचरण करके कायर होना लज्जाकी बात है। जगत् पूज्य इस मुनि अवस्थामें जगत दुर्लभ ज्ञान पीयूष (अमृत) का पान कर॥ २॥

३ शीत परीषह जय—शीतका कष्ट सहन करनेको कहते हैं। जिसमें समीर झकोरोंसे जगत्के जीवोंका शरीर थरथर

कांपने लगता है। सरोवरोंका जल जिसके मारेसे पत्थर (बर्फ) हो जाता है। हरित वृक्षोंके समूह तथा कमल वन जिस तुषारसे दग्ध हो जाते हैं, तब अग्नि ताम्बूलादि उष्ण पदार्थोंका सेवन करते हुए भी मनुष्य घरमेंसे बाहिर नहीं हो सके ऐसी हेमंत ऋतुमें सरित सरोवरादि जलाशयोंके किनारे कायोत्सर्ग अथवा पद्मासन स्थित मुनिवरोंको जब शीत सताता है, तब वे विचार करते हैं:— हे जीव! तूने छठवें सातवें नरकोंकी उस महा शीत वेदनाको सहन किया है, जिसकी तुलना करनेसे यह उपस्थित वेदना सुमेरुके सम्मुख एक अणुके तुल्य है, यदि तू इस महा मुनिवृत्तिको धारण कर इसे जीत लेगा तो सदाके लिये इससे छुटकारा हो जावेगा। नहीं तो फिर इससे भी दुस्सह शीत अनंत संसारमें अनंत वार सहना पड़ेगी ॥ ३ ॥

४ उष्ण परीषह जय—उष्णताका संताप सहनेको कहते हैं, जिसमें समस्त संसार तप्त तवेके समान हो जाता है। यावन्मात्र जीव व्याकुल हो जाते हैं। जंगलके महा हिंसक पशु—सिंह और हरिण व्याकुलताके कारण बैर भावको छोड़कर एक स्थानमें पड़े रहते हैं। जलाशयोंका जल सूख जाता है। तप्त लूके (वायु) चलनेसे वृक्ष कुम्हला जाते हैं. ऐसे प्रचण्ड ग्रीष्म कालमें मुनि गन पर्वतोंकी उच्च शिखरोंकी शिलाओं पर स्थित होते हैं और ज्ञानामृतकी शीतलतासे उष्ण वेदनाको शमन करते रहते हैं ॥४॥

५ नग्न परीषह जय—रेशम, ऊन, सूत, घास, वृक्ष चर्मादिकके किसी प्रकारके वस्त्र न रखकर दशों दिशारूपी वस्त्र धारण कर भयंकर वनमें एकाकी नग्न रहनेको और काय संबंधी विकारोंके न

होने देनेको कहते हैं ॥ ५ ॥

६ याचना परीषह जय–किसीसे किसी भी प्रकारकी याचना (मांगनी) न करनेको कहते हैं। याचनासे समस्त संसारी जीव दीन हो रहे हैं महा वैभव तथा ऋद्धि सम्पन्न इन्द्र भी अभिलाषा वश रंक हो रहे हैं परन्तु मुनि अयाचक व्रतके धारण करने वाले हैं। वे किसीसे भोजन धर्मोपकरणादि वस्त्र आदि तो क्या तीर्थंकर देवसे मोक्ष तक भी नहीं मांगते इसीसे वे सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ६ ॥

७ अरति परीषह जय–संसारके समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें संसारी जीव राग द्वेष मानते हैं ऐसा न करके मंदिर और बन शत्रु और मित्र–कनक और पाषाण-सबमें समता भाव धारण करनेको तथा रति अरति रूप परिणाम न करनेको अरति परीषह जय कहते हैं ॥ ७ ॥

८ अलाभ परीषह जय–अनेक उपवासोंके अनन्तर नगरमें भोजनार्थ जानेपर निर्दोष आहारादि न मिलनेसे खेदित न होनेको कहते हैं ॥ ८ ॥

दंसमसकादि परीषहजय--भयंकर बनमें नग्न शरीर पाकर नाना ऋतुके नाना प्रकारके डांस मच्छड़ पिपीलिका मक्खी कानखजूरे सर्पादि जीव लिपट जाते हैं उनकी व्यथासे खेदित न होकर ध्यानावस्थित रहनेको कहते हैं ॥ ९ ॥

१० आक्रोशपरीषहजय- मुनिकी महा दुर्धर नग्न दिगम्बरावस्थाको देखकर दुष्ट जन नाना प्रकारके कुवचन कहते हैं, पांखडी चोर, ठग, निर्लज्ज आदि कहकर गालियां देते हैं, ऐसे समयमें कि-

चिन्मात्र भी क्रोधित न होकर महाक्षमा धारण करनेको कहते हैं ॥ १० ॥

११ रोग परिषह जय—इस क्षणभंगुर शरीरमें उदरविकार रक्तविकार, चर्मविकार, तथा वायु पित्त कफजनित विकार आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं उनके उत्पन्न होनेपर खेदित न होके तज्जनित पीड़ा सहन करते हुए उन रोग शमनके उपाय न करनेको रोग परीषह जय कहते हैं ॥ ११ ॥

१२ मल परीषह जय—संसारके जीवोंके शरीरमें पसीना आकर रंचमात्र भी रज बैठ जाय, तो वे खेद करते हैं और स्नानादि सुखजनक उपाय करते हैं परन्तु ऐसा न करके ग्रीष्मकी धूपसे प्रवाहित पसीने पर अनन्त रज बैठ जाने पर अर्थात् शरीरके महा मलीन हो जानेपर भी स्नान विलेपनादि नहीं करके चित्त निर्मल रखनेको मल परीषह जय कहते हैं। इस परीषहका जय करते समय मुनि चिंतवन करते हैं कि हे जीव! यद्यपि यह शरीर इतना मलीन है, कि सारे समुद्रके जलसे धोया जावे तो भी पवित्र न होवे: परन्तु तू महा निर्मल अमूर्तिक शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, तुझसे मूर्तिक मलीन पदार्थोंका संसर्ग ही नहीं हो सक्ता अतएव देह स्नेह छोड़ करके आपमें स्थिर रहो ॥ १२ ॥

१३ तृण स्पर्श परीषह जय—जगतके जीव छोटीसी फांसके लग जानेपर दुःखी होते हैं और उसके निकालनेका प्रयत्न करते हैं, ऐसा न करके तृण, कंटक, कंकर फांस आदि शरीरमें चुभ जाने पर खेद खिन्न न होनेको और उनके निकालनेका उपाय न करनेको तृण स्पर्श परीषह जय कहते हैं ॥ १३ ॥

इच्छा न करके मार्गके कष्टको न गिनकर भूमि शोधन करते हुए गमन करनेको कहते हैं ॥१९॥

२० वध बंधन परीषह जय—दुष्ट मनुष्यों द्वारा वध बंधनादि दुःख उपस्थित होने पर भी उन्हें समतापूर्वक सहन करनेको कहते हैं ॥ २० ॥

२१ निषद्या परीषह जय—निर्जन वनोंमें, हिंसक जीवोंके निवास स्थानोंमें, पर्वतादि क्षेत्रोंके स्थानोंमें, अन्धकार युक्त गुफाओंमें और श्मशान भूमियोंमें रहकर भी दुःख न माननेको कहते हैं ॥२१॥

स्त्री परीषह जय—महा सुन्दर स्त्रियोंके हाव भाव मुस्कानादि चेष्टाओंसे पीड़ित न होनेको कहते हैं ॥२२॥

एकत्व भावना।

अब एकत्व भावनाका व्याख्यान करते हैं, सो प्रथम ही यह कहते हैं कि यह आत्मा समस्त अवस्थाओंमें एक ही होता है—

महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥१॥

अर्थ—महा आपदाओंसे भरे हुए दुःखरूपी—अग्निसे प्रज्वलित और गहन ऐसे संसाररूपी मरुस्थलमें (जल वृक्षादि हीन रेतीली भूमिमें) यह जीव अकेला ही भ्रमण करता है। कोई भी इसका साथी नहीं है ॥ १ ॥

स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभम्।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा ॥ २ ॥

अर्थ—इस संसारमें यह आत्मा अकेला ही तो अपने पूर्व

कर्मोंके सुख दुःखरूप फलको भोगता है और अकेला ही -
गतियोंमें एक शरीरसे दूसरे शरीरको ग्रहण करता है ॥ २ ॥

संकल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम् ।
निर्विशत्ययमेकाकी स्वर्गश्रीरञ्जिताशयः ॥ ३ ॥

अर्थ—तथा यह आत्मा अकेला ही स्वर्गमें होनेसे संक-ल्पन होकर देवोपनीत संकल्पमात्रसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्ग सुखरूपी अमृतका पान करता है परन्तु स्वर्ग सुख भी अकेला ही भोगता है। कोई भी इसका साथी नहीं है ॥ ३ ॥

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथवा ।
सुखदुःखविधौ वास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः ॥ ४ ॥

अर्थ—इस प्राणीके संयोग वियोगमें अथवा जन्म मरणमें तथा सुखदुःख भोगनेमें कोई भी मित्र साथी नहीं है। अकेला ही भोगता है ॥ ४ ॥

मित्रपुत्रकलत्रादिकृते कर्म करोत्ययम् ।
यत्तस्य फलमेकाकी भुङ्क्ते श्वभ्रादिषु स्वयम् ॥ ५ ॥

अर्थ—यह जीव पुत्र, मित्र, स्त्री आदिकके निमित्त जो कुछ बुरे भले कार्य करता है, उसका फल भी नरकादिक गति-योंमें स्वयं अकेला ही भोक्ता है। वहां भी कोई पुत्र मित्रादि कर्मफल भोगनेको साथी नहीं होते ॥ ५ ॥

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम् ।
न तु सोढुं स्वकर्मोत्थं निर्दयं व्यसनावलीम् ॥ ६ ॥

अर्थ—यह प्राणी बुरे भले कार्य करके जो धनोपार्जन करता है उस धनके भोगनेको तो पुत्र मित्रादि अनेक साथी हो जाते हैं।

परन्तु अपने कर्मोंसे उपार्जन किये हुए निंद्य स्वरूप दुखोंके समूहको सहनेके अर्थ कोई भी साथी नहीं होता है। भावार्थ—यह जीव अकेला ही सब दुखोंको भोगता है ॥६॥

एकत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्म ग्रहार्दिताः
यज्जन्ममृत्युसम्पाते प्रत्यक्षमनुभूयते ॥ ७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, ये मूर्ख प्राणी संसाररूपी पिशाचसे पीड़ित हुए भी अपनी एकताको क्यों नहीं देखते; जिसे जन्म मरणके प्राप्त होनेपर सब ही जीव प्रत्यक्षमें अनुभव करते हैं। **भावार्थ**—आप अपनी आंखोंसे देखता है कि, यह जन्मा और यह मरा, जो जन्म लेता है वह मरता है, दूसरा कोई भी उसका साथी नहीं है।

इसप्रकार एकाकीपन देखकर भी अपने एकाकीपनको नहीं देखता है यह बड़ी भूल है ॥ ७ ॥

अज्ञात स्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः।
अपश्यन्निरतं जीव एकाकी विधि वंचितः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह जीव अपने अकेलेपनको नहीं देखता है। इसका कारण यह है कि ज्ञानादि नेत्रोंके लुप्त होनेसे यह अपने स्वरूपको भले प्रकार नहीं जानता है और इसी कारणसे कर्मोंसे ठगाया हुआ यह जीव एकाकी ही इस संसारमें भ्रमण करता रहता है। **भावार्थ**—इसका अज्ञान ही कारण है ॥ ८ ॥

यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थे स्थिरेतरे।
तदा स्वं स्वेन बध्नाति तद्विपक्षे शिवी भवेत् ॥ ९ ॥

अर्थ—यह मूढ़ प्राणी जिस समय मोहके उदयसे चेतन

तथा अचेतन पदार्थोंसे अपनी एकता मानता है, तब यह जीव आपको अपने ही भावोंसे बांधता है अर्थात् कर्मबंध करता है, और जब यह अन्य पदार्थोंसे अपनी एकता नहीं मानता है तब कर्मबंध नहीं करता है और कर्मोंकी निर्जरापूर्वक परंपरा मोक्षगामी होता है। एकत्व भावनाका यही फल है ॥ ९ ॥

> एकाकित्व प्रपन्नोऽस्मि यदाहं वीतविभ्रम ।
> तदैव जन्मसम्बन्ध स्वयमेव विशीर्यते ॥ १० ॥

अर्थ—जिस समय यह जीव भ्रमरहित हो ऐसा चिंतवन करे कि, मैं एकाकी प्राप्त हो गया हूं उसी समय इस जीवका संसारका सम्बन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि संसारका सम्बन्ध तो मोहसे है और यदि मोह जाता रहे, तो आप एक है फिर मोक्ष क्यों न पावे ॥ १० ॥

अब एकत्व भावनाका व्याख्यान पूरा करते हैं सो सामान्यतासे कहते हैं—

(राग—मन्दाक्रान्ता)

> एकः स्वर्गी भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभृंगः ।
> एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः ॥
> एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान् ।
> एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥ ११ ॥

अर्थ—यह आत्मा आप एक ही देवांगनाके मुखरूपी कमलकी सुगन्धि लेनेवाले भ्रमरके समान स्वर्गका देव होता है और अकेला आप ही कृपाण, छुरी, तलवारोंसे छिन्न भिन्न किया हुआ नरक संबन्धी रुधिरको पीता है तथा अकेला आप क्रोधादि कषाय रूपी अग्नि सहित होकर कर्मोंको बांधता है और अकेला ही

आप विद्वान् ज्ञानी पंडित होकर समस्त कर्मरूप आवरणके अभाव होनेपर ज्ञानरूप राज्यको भोगता है। भावार्थ—आत्मा आप अकेला ही स्वर्गमें जाता है, आप ही अकेला नरकमें जाता है, आप ही कर्म बांधता है और आप ही केवलज्ञान पाकर मोक्षको जाता है ॥ १ ॥

इस भावनाका संक्षेप आशय इतना ही है कि, परमार्थसे (निश्चय) तो आत्मा अनन्त ज्ञानादि स्वरूप आप एक ही है, परन्तु संसारमें जो अनेक अवस्थायें होती हैं वे कर्मके निमित्तसे होती हैं। उनमें भी आप अकेला ही है। इसका दूसरा कोई भी साथी नहीं है। इस प्रकार एकत्व भावनाका व्याख्यान किया है।

दोहा।

परमारथतें आत्मा, एक रूप ही जोय।
कर्म निमित्त विकलप घनें, तिनिनाशें शिव होय ॥ २ ॥

इति एकत्व भावना।

अंकलेश्वरमें त्रिलोकसार पूजाका पद।

राग—अगलो।

मंडलसार त्रिलोक सिरोमणि। पुर अंकलेश्वर माहि हो। मंडलसार० ॥ टेक ॥ संवत् शत उगनीस तासपरि धरि पैंतीस सुनाय

बम्बईसे जूनागढ़ जानेके रास्तेमें अंकलेश्वरका स्टेशन आता है। यहां दिगम्बरियोंके चार मंदिरजी हैं और वहांसे तीन कोसपर सजोद गाममें भोंरेमें चौथे कालकी शीतलनाथ स्वामीकी ध्याना-रूढ़ बड़ी मनोज्ञ प्रतिमा है। अंकलेश्वरमें संवत् १९३५ की सालमें महाचन्द्र पंडितद्वारा त्रिलोकसारजीका पूजन हुआ था उसका वृत्तांत इस पदमें बताया है।

हो। पंडित [illegible] अरु [illegible] श्री सुकंठ वैराग्य हो ॥मंडल्मार०॥
॥ १ ॥ अंगनेश्वर नई पंच कुमार समीप जु आय हो। बोले
[illegible] जिनवाणी [illegible] [illegible] ताही हो। मंडल्मार० ॥२॥
जैन [illegible] जिन मंदिर आये [illegible] हो। गान [illegible] केर
अति [illegible] हो। मंडल्मार० ॥३॥ [illegible]
[illegible] हो ॥ सुदि वैशाख तीज रविवारे
[illegible] हो ॥ मंडल्मार० ॥ ४ ॥ तादिन श्री जिनेन्द्र देवकी
रथ यात्रा कराय हो। नाचत भविजन मनन सनन मन सन सनन
[illegible] हो ॥ मंडल० ॥५॥ तनन तनन तन तननननननन तान होत
[illegible] हो ॥ झन झन झम झन झन झन झम झन [illegible] कराय हो ॥
मंडल्मार० ॥ ६ ॥ सारदि सारदि [illegible] सारदि जहां
[illegible] सारंगी बाय हो ॥ डम डम डम डम डम डम डम डम
होत [illegible] हो ॥ मंडल० ॥ ७ ॥ घनन घनन घन घनन घंट
घनाघन [illegible] हो रि रि रि रि रि रि रि रि रि रि रि रि रि रि रिषभेश्वर
[illegible] हो ॥ मंडल०॥८॥ सससससससससससससससससजस्वर
[illegible] हो॥ गगगगगगगगगगगगगगगग गंधारो स्वर गाय हो॥
मंडल० ॥९॥ पपपपपपपपपपपपपपपपप पंचम नाद कराय हो ॥
मममममममममममममममम मध्यम स्वर [illegible] हो॥मं०॥१०॥
धधधधधधधधधधधधधधधधध धैवत स्वर [illegible] हो। निनिनिनिनि
निनिनिनिनिनिनिनिनिनिनिनि होत निरत [illegible] हो ॥मंडल०॥११॥
ऐसे गावत और बजावत [illegible] [illegible] हो ॥ श्री जिन [illegible]
[illegible] जँह ॥ नर पशु चौतरफांय हो ॥ मंडल० ॥ १२ ॥ फिर श्री
जिनको उत्सव संयुत मंडपमें पधराय हो ॥ करि अभिषेक करी

फिर पूजा महाचंद्र चितलाय हो ॥ मंडल० ॥१३॥ सप्त स्वरयुत पूंजा कीनी दिन पंद्रह मन लाय हो ॥ वदि दुतिया शनिवारे पूजन पूर्ण करी सुखदाय हो ॥ मंडल०॥१४॥ देश देशके यात्री आये ॥ मंडल जिन दरशाय हो । पूजन करि करि श्री जिनवरको । सब हर्षे मनमांहि हो ॥ मंडल० ॥ १५ ॥ श्री जिन प्रभावनाग इन महाचन्द्र बुधराय हो । यासू जन्म सफल लखि अपनो सीकर नगर गया हि हो ॥ मंडलसार० ॥ १६ ॥

॥ सम्पूर्ण ॥

सम्यग्दृष्टीकी पहिचानके लिये।

अष्टगुण—तिनकरि आपके वा अन्यके सम्यक्त्व जाना जाय है। संवेग निर्वेद आत्मनिन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकंपा।

अर्थ—ये आठ जाके होयँ उसके सम्यग्दर्शन होय है।

संवेग—कहिये धर्ममें अनुरागका होना, जाते संसारी मिथ्यादृष्टीका अनुराग तो देहसू लागी रहा है। जो मेरा देह उज्वल रहे, बलवान रहे, पुष्ट रहे, देहसू ममता कर अभक्ष भक्षण कर आनंद माने है। अन्यायके विषै शृंगारादिक करि देह ही कूं भूषित करे है। पापीनका संबंधमें आनंद माने है तथा विकथामें राग करे है तथा स्त्री, पुत्र, धन संपदामें, नगर, देश, राज्य, ऐश्वर्यमें अनुराग करे है। सम्यग्दृष्टीके देहादिकनिमें आत्मबुद्धि नहीं है ताते दशलक्षण धर्ममें अनुराग करे है अरु सम्यग्दृष्टिका अनुराग तो धर्मात्मा पुरुषनिमें धर्मकी कथामें, धर्मके आयतनिमें होय है। ऐसा संवेग गुण है सो सम्यग्दृष्टिके होय ही है ॥ १ ॥ बहुरि सम्यग्दृष्टिके पंच परिवर्तनरूप संसारतैं अरु-

कृतघ्न देहतैं अरु दुर्गतिके ले जानेवाले भोगनतैं विरक्तपनातै अरु नियमतैं होय ही सो दूजागुण निर्वेद प्रकट होय है ॥ २ ॥ बहुरि अपने प्रमादीपना करि तथा असंयम भाव करी तथा संसारिक पापमें प्रवृत्ति कर निरंतर परिणाममें निंद्यपनाका चितवन जो ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्मकी एक क्षण भी धर्मका आश्रय विना जाय है सो बडा अनर्थ है । ऐसे अपने परिणामन करि अपना दोष सहित प्रवर्त्तनकू विचार अपने मनमें अपन निंदा करना सो तीजा आत्मनिंदा नाम गुण है । बहुरि जो अपने गुरू होय तथा बहुज्ञानी साधर्मी होय तिनके निकट विनय सहित अपने निंद्य दोषादिक प्रकट करना सो चोथा सम्यग्दृष्टिका गर्हा नाम गुण है (४) बहुरि जो क्रोध मान, माया, लोभकी सम्यग्दृष्टिके मंदता होय है । राग, द्वेष, काम, उन्माद, वैरादिक सम्यग्दृष्टिके मंद होय है सो ही उपशम गुण है ॥ ५ ॥ बहुरि सम्यग्दृष्टिके पाच परमेष्ठिमें तथा जिनवाणीमें जिनेंद्रके प्रतिबिंब दशलक्षण धर्ममें धर्मके धारक धर्मा-त्मानमें तपस्वीनमें अनेक गुण स्मरणकर गुणमें अनुराग करना सो सम्यग्दृष्टिके भक्ति नाम छठा गुण होय ही है । ६ ॥ बहुरि सम्यग्दृष्टिके धर्मात्मामें प्रीति होय है जैसे दरिद्रीके धनकू देख आनंद प्राप्त होय तैसे साधर्मी धर्मात्माकूं सम्यग्दृष्टिकूं वा सम्यग्ज्ञानीके धर्म व्याख्यानकू श्रवण करि वा देखने करि सम्यग्दृष्टिके अत्यन्त आनंद प्रकट होना सो वात्सल्यनामा सप्तम गुण है ॥७॥ बहुरि सम्यग्दृष्टिके षट्कायके जीवनकी दया प्रकट होय है । पर जीवके दुःख देख अपना परिणाम कंपायमान हो जाय जाते आप में दु.ख आया तथा ताके दुःख मेट जाने प्रति परिणामका होना

सो सम्यग्दृष्टिके अनुकंपा गुण प्रकट होय है ॥ ८ ॥ ऐसे और हू अपरिमाण गुण सम्यग्दृष्टिके स्वयमेव प्रकट होय हैं तातैं जिनके सत्यार्थ श्रद्धान ज्ञान प्रकट हो गया तिनके समस्त बाह्य अभ्यन्तर गुण ही होय परिणमें हैं।

ब्रह्मचर्यको धारण करनेवालोंके त्यागने योग्य दश प्रकारके मैथुनको कहते हैं—

पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यश्च मैथुनं।
योषित्संगाद्विरक्तेन त्याज्यमेवमनीषिणा।

अर्थ—ब्रह्मचर्य व्रतका प्रतिपक्षी मैथुन (काम सेवन) है। सो स्त्री पुरुषके संयोगके सिवाय भी दश प्रकारका है और अन्तमें विरस है। इस कारण जो पुरुष स्त्रीसे विरक्त हैं उनको त्यागने योग्य है।

उन दश प्रकारके मैथुनोंके नाम तीन श्लोकसे कहते हैं—

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम्।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तूर्यमिष्यते ॥
योषिद्विषयसंकल्पः पंचमं परिकीर्तितम्।
तदंगवीक्षण षष्ठं संस्कार सप्तमं मतम् ॥
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यातदष्टमम्।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम् ॥

अर्थ—प्रथम तो शरीरका संस्कार करना (शृंगारादि करना) १, दूसरा—पुष्ट रसका सेवन करना २, तीसरा—तौर्यत्रिक कहिये गीत नृत्य वादित्रका देखना सुनना ३, चौथा—स्त्रीका संसर्ग करना ४, पांचवां—किसी प्रकारकी स्त्रीका संकल्प वा विचार

करना ५, छट्ठा स्त्रीके अंग देखना ६, सातवां उस देखनेका संस्कार हृदयमें अंकित रहना ७, आठवां—पूर्वमें किये हुए संभोगका स्मरण करना ८, नवां आगामी भोगनेकी चिन्ता करना ९ और दशवां—शुक्रका क्षरण १०, इस प्रकार मैथुनके दश भेद हैं। ये ब्रह्मचारीको सर्वथा त्यागना चाहिये।

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम्।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम्॥

अर्थ—जिस प्रकार किंपाक फल (इन्द्रायणका फल) देखने सुंघने और खानेमें रमणीय (सुस्वादु) है और विपाक होनेपर हालाहल (विष) का काम करता है उसी प्रकार यह मैथुन भी कुछ काल पर्यन्त रमणीक वा सुखदायक मालूम होता है, परन्तु विपाक-समयमें (अन्तमें) बहुत ही भयका देनेवाला है।

विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्मसमुपासते।
एते दशमहादोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये॥

अर्थ—जो पुरुष काम और भोगोंसे विरक्त होकर भोगोंमें ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं उनको भावशुद्धिके लिये उपर्युक्त दश प्रकारके मैथुन त्याग देना चाहिये। क्योंकि इन दोषोंके त्यागे विना भावोंकी शुद्धिता नहीं होती।

स्मरप्रकोपसंभूतान्स्त्री कृतान्मैथुनोत्थितान्।
संसर्गप्रभवान्ज्ञात्वा दोषान् स्त्रीषु विरज्यताम्॥

अर्थ—हे आत्मन्! कामके प्रकोपसे उत्पन्न हुए दोषों तथा स्त्रीके किये दोषों और मैथुन कृत दोषों तथा संसर्गजन्य दोषोंको जानकर स्त्रियोंसे विरक्त हो। अब प्रथम ही कामके प्रकोप

होनेसे जो दोष होते हैं उनका वर्णन करते हैं:—

सिक्तोऽप्यम्बुधाराभिः प्लावितोऽप्यम्बुराशिभिः।
न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपितः॥

अर्थ—कामरूपी अग्निका ताप ऐसा होता है कि वह प्रज्वलित होने पर मेघके समूहोंसे सिंचन होने पर भी दूर नहीं होता अथवा कामाग्निसे प्रज्वलित पुरुषको चाहे समुद्रमें डूबा रक्खो तौ भी सन्ताप दूर नहीं होता।

मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि भास्करः।
न प्लोषति तथा लोकं यथा दीप्तः स्मरानलः॥

अर्थ—काम रूपी अग्नि प्रज्वलित होकर जिस प्रकार लोकको सन्तापित करती है, उस प्रकार जेठ महीनेके मूल नक्षत्रमें बादल रहित आकाशमें प्रकाशमान सूर्य भी नहीं कर सकता।

हृदि ज्वलति कामाग्निः पूर्वमेव शरीरिणाम्।
भस्मसात्कुरुते पश्चादङ्गोपाङ्गानि निर्दयः॥

अर्थ—कामरूपी निर्दय अग्नि प्रथम तो जीवोंके हृदयमें प्रज्वलित होती है तत्पश्चात् सब वृद्धिको प्राप्त हो कर शरीरके अंग उपांगोंको भस्म कर देती है, अर्थात् झुलस देती है।

अचिन्त्यकामभोगीन्द्रविषव्यापारमूर्च्छितं।
वीक्ष्य विश्वं विवेकाय यतन्ते योगिनः परं॥

अर्थ—जो परम योगी हैं वे इस लोकको अचिन्त्य कामरूपी सर्पके विषकी क्रियासे मूर्छित हुआ देख कर ही अपने आत्मस्वरूपके भेद विज्ञानार्थ यत्न करते हैं। भावार्थ—इस कामसे योगीश्वर ही बचे हैं।

ज्ञान उपाय तिहुं योग धरे दृढ़ तनकी ममता टारै।
अन्त समय वैराग्य सम्हारै ध्यान समाधि विचारै॥
आग लगे अरु नाव डुबै जब धर्म विघन जब आवै।
चार प्रकार अहार त्यागिके मंत्र सु मनमें ध्यावै॥ ३॥
रोग असाध्य जहां बहु देखे कारण और निहारै।
बात बड़ी है जो बनि आवै भार भवन को डारै॥
जो न बने तो घरमें रहकर सबसों होय निराला।
मात पिता सुत तियको सौंपे निज परिग्रह अहि काला॥ ४॥
कछु चैत्यालय कछु श्रावक जन कछु दुखिया धन देई।
क्षमा क्षमा सब ही सों कहिके मनकी शल्य हनेई॥
शत्रुन सों मिलि निज कर जोरे मैं बहु करी है बुराई।
तुमसे प्रीतम को दुख दीने ते सब बकसो भाई॥ ५॥
धन धरती जो मुखसों मांगे सो सब दे संतोषै।
छहों कायके प्राणी ऊपर करुणा भाव विशेषै॥
ऊंच नीच घर बैठि जगह इक कछु भोजन कछु पय ले।
दूधाधारी क्रम क्रम तजिके छाछ अहार पहेलै॥ ६॥
छाछ त्यागिके पानी राखै पानी तजि संथारा।
भूमिमांहि थिर आसन मांडै साधर्मी ढिग प्यारा॥
जब तुम जानो यह न जपै है तब जिनवानी पढ़िये।
यों कहि मौन लियो संन्यासी पंच परम पद गहिये॥ ७॥
चौ आराधन मनमें ध्यावै बारह भावन भावै।
दशलक्षण मन धर्म विचारै रत्नत्रय मन ध्यावै॥
पैंतिस सोलह षट पन चौ दुइ इक वरन विचारै।

काया तेरी दुखकी ढेरी ज्ञान मई तू सारे ॥ ८ ॥
अजर अमर निज गुण सों पूरे परमानन्द सुभवे ।
आनन्द कन्द चिदानंद साहब तीन जगतपति ध्यावे ॥
क्षुधा तृषादिक होइ परीषह सहै भाव सम राखै ।
अतीचार पांचो सब त्यागे ज्ञान सुधारस चाखे ॥ ९ ॥
हाड मांस सब सुखि जाय जब धरम लीन तन त्यागे ।
अदभुत पुण्य उपाय सुरगमें सेज उठे ज्यों जागे ॥
तहँ तैं आवे शिवपद पावे विलसे सुक्ख अनन्तो ।
'द्यानत' यह गति होय हमारी जैन धरम जयवन्तो ॥ १० ॥

वैराग्य भावना ।

॥ दोहा ॥

बीज राख फल भोगवे, ज्यों किशान जगमाहिं ।
त्यों चक्री सुखमें मगन, धर्म विसारै नाहिं ॥

योगीरासा वा नरेंद्र छन्द ॥

इस विधि राज्य करै नर नायक, भोगे पुण्य विशाल । सुख सागरमें मगन निरन्तर, जात न जानो काल ॥ एक दिवस शुभ कर्म योगसे, क्षेमंकर मुनि बंदे । देखे श्री गुरुके पद पंकज, लोचन अलि आनंदे ॥१॥ तीन प्रदक्षिणा दे शिर नायो, कर पूजा स्तुति कीनी। साधु समीप विनय कर बैठो, चरणोंमें दृष्टि दीनी ॥ गुरु उपदेशो धर्म शिरोमणि, सुन राजा वैरागो । राज्य रमा वनतादिक जो रस, सो सब नीरस लागो ॥२॥ मुनि सूरज कथनी किरणावलि, लगत भर्म बुधि भागो । भव तन भोग स्वरूप विचारो, परम धर्म अनुरागो ॥

या-संसार महा वन भीतर, भ्रमते ओर न आवै। जन्मन मरन जरा दव दाहै, जीव महा दुख पावै ॥ ३ ॥ कबहूं कि जाय नरक थिति भुंजै, छेदन भेदन भारी। कबहूं कि पशु पर्याय धरै तहां, वध बन्धन भयकारी। सुरगतिमें पर संपति देखै, राग उदय दुख होई। मानुष योनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नहिं कोई ॥ ४ ॥ कोई इष्ट वियोगी बिलखै, कोई अनिष्ट संयोगी। कोई दीन दरिद्री दीखै, कोई तनके रोगी ॥ किस ही घर कलिहारी नारी, कै बैरी सम भाई। किस ही के दुख बाहर दीखै, किस ही उर दुचिताई ॥ ५ ॥ कोई पुत्र बिना नित झूरै, होय मरै तब रोवै। खोटी संततिसों दुख उपजै, क्यों प्रानी सुख सोवै ॥ पुण्य उदय जिनके तिनको भी, नाहीं सदा सुख साता। यह जगवास जथारथ देखे, सब दीखै दुखदाता ॥ ६ ॥ जो संसार विषै सुख होता, तीर्थंकर क्यों त्यागै। काहेको शिव साधन करते, संजमसों अनुरागै ॥ देह अपावन अथिर घिनावन, यामैं सार न कोई। सागरके जलसों शुचि कीजे, तो भी शुद्ध न होई ॥ ७ ॥ सात कुधातु भरी मल मूरत, चर्म लपेटी सोहै। अन्तर देखत या सम जगमें, और अपावन को है ॥ नव मल द्वार स्रवैं निशि बासर, नाम लिये घिन आवै। व्याधि उपाधि अनेक जहां तहां, कौन सुधी सुख पावै ॥ ८ ॥ पोषत तो दुख दोष करै अति, सोषत सुख उपजावै। दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावै ॥ राचन योग्य स्वरूप न याको, विरचन योग सही है। यह तन पाय महा तप कीजे, यामैं सार यही है ॥ ९ ॥ भोग बुरे भव रोग बढ़ावैं, बैरी हैं जग जीके। बेरस होय विपाक समय अति, सेवत लागैं नीके ॥ वज्र अग्नि विषसे

विषधरसे, हैं अधिके दुःखदाई । धर्मरत्नको चोर प्रबल अति दुर्गति पन्थ सहाई ॥ १० ॥ मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जाने । ज्यों कोई जन खाय धतूरा, सो जब कंचन माने ॥ ज्यों ज्यों भोग संयोग मनोहर, मन वांछित जन पावे । तृष्णा नागिन त्यों त्यों डंके, लहर लोभ विष लावे ॥ ११ ॥ मैं चक्री पद पाय निरन्तर, भोगे भोग घनेरे । तो भी तनिक भये ना पूरण, भोग मनोरथ मेरे ॥ राज समाज महा अघ कारण, बैर बढ़ावन हारा । वेश्या सम लक्ष्मी अति चंचल इसका कौन पत्यारा ॥ १२ ॥ मोह महा रिपु बैर विचारे, जग जीव संकट डारे । घर कारागर वनिता बेटा, परजन हैं रखवारे ॥ सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण तप, ये जियको हितकारी । ये ही सार असार और सब, यह चक्री चितधारी ॥ १३ ॥ छोडे चौदह रत्न नवोंनिधि, और छोडे संग साथी । कोडि अठारह घोड़े छोडे, चोरासी लख हाथी ॥ इत्यादिक सम्पति बहुतेरी, जीर्ण तृणवत त्यागी । नीति विचार नियोगी सुतको राज्य दिया बड भागी ॥१४॥ होय निःशल्य अनेक नृपति संग, भूषण वसन उतारे । श्रीगुरु चरण धरी जिनमुद्रा, पंच महाव्रत धारे ॥ धन्य समझ सुबुद्धि गौत्तम, धन्य यह धैर्य धारी । ऐसी सम्पति छोड़ बसे बन, तिन पद धोक हमारी ॥१५॥

॥ दोहा ॥

परिग्रह पोठ उतार सब, लीनो चारित्र पंथ ।
निज स्वभावमें स्थिर भये, बज्रनाभि निर्ग्रंथ ॥

॥ इति वैराग्यभावना सम्पूर्णम् ॥



श्रीमद् गुणभूषणस्वामी विरचित-

श्रावकाचार

प्रथम भाग।

(सम्यक्त्वका विस्तृत स्वरूप)



अनुवादक-
पं० नंदनलालजी जैन वैद्य चावलीनिवासी।



प्रकाशक-
मूलचंद किसनदास कापड़िया,
मालिक-दिगंबर जैन पुस्तकालय-सूरत।



"दिगंबर जैन" के १७वें वर्षके ग्राहकोंको भेट।

प्रथमावृत्ति]   वीर सं० २४५१   [प्रति १२००.

जैनविजय प्रिन्टिंग प्रेस-सूरतमें मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया।

मूल्य रु० ०-१२-०.

प्रस्तावना ।

अधिक ग्रंथोंके पढ़नेसे अथवा अधिक ज्ञान संपादन करनेसे मनुष्य इतना उन्नत नहीं होता जितना कि उज्वल चारित्र धारण करनेसे होता है। जिसका चारित्र आदर्श रूप है वह संसारमें सबसे अधिक नीतिका पालनका सन्मार्गगामी बन सक्ता है—उसके व्यवहार विवेक पूर्ण और सदाचारपूर्ण होते हैं।

मनुष्यको शिक्षा देनेका मार्ग इस समय साहित्यसे ही होता है। इसलिये मनुष्योंको ऐसा साहित्य पढ़ना चाहिये जिससे मनुष्य सदाचारी, विवेकी और नीतिसंपन्न बने।

बालकोंको बचपनसे उपन्यास (नोविल) आदिकी शिक्षा देनेसे जीवनके उत्तम आर्योंका लोप होजाता है और अगर उनको एकवार भी चारित्र संबन्धी ग्रन्थकी शिक्षा दी जाव तो समस्त जीवन सुधर जाता है। जैन समाजमें भी बहुतसे मनुष्योंका जीवन पश्चिम प्रवाहसे चारित्रविहीन होरहा है। इससे संसारमें सदाचारका मार्ग रुक गया है और पापाचरणोंकी वृद्धि होगई है।

इस ग्रंथमें सदाचारके मार्गका विकाश संक्षेपतासे किया गया है। तथा बालक, वृद्ध और नरनारियोंको रुचिकर हो इसलिये कथाओंका भी समावेश किया गया है।

संसारमें जितने चारित्रके ग्रंथ अधिक प्रचार होंगे उतना ही संसारको अधिक लाभ होगा इस आशासे ही इस ग्रंथकी रचना की गई है।

इस ग्रंथके रचयिता श्रीमद् गुणभूषणस्वामी कौनसे अपने पवित्र जीवनसे इस भूमंडलको किस समय भूषित करते होंगे इसका हमारे पास बिल्कुल साधन नहीं है।

जिस प्रतिसे यह ग्रंथ लिखा है। वह सं० १९२१ के सालकी है। इससे कितने वर्ष पूर्व ये आचार्य हुए इसका प्रमाण हमारे पास नहीं है। अनुमानसे चौदहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें ही ये हुए हों ऐसा कितने ही कारणोंसे सिद्ध होता है।

ग्रन्थका साहित्य बहुत ही उच्च और प्रासादादि गुणोंसे सांगोपांग परिपूर्ण है। इसलिये आप उस समय विद्वानोंमें सर्वोपरि होंगे इसमें किसी प्रकारका सदेह नहीं है। इस विषयका यत् किंचित् दिग्दर्शन ग्रथकर्ताने स्याद्वादचूडामणी और गुणभूषण इस शब्दमें व्यंगतासे स्पष्ट वर्णन किया है। आप परम विरक्त और प्रखर विद्वान् थे।

आपने यह श्रावकाचार नेमिदेवके आग्रहसे नेमिदेवके नामसे ही बनाया है। नेमिदेवका वर्णन इस ग्रन्थमें स्पष्ट रूपसे किया है। गुरु अपने शिष्यका ऐसा उच्च वर्णन नहीं कर सक्ता फिर आचार्य और परम संयमी होकर इनने जो कुछ वर्णन किया है वह अतिशयोक्ति रूप नहीं है किन्तु सत्य २ रूप वस्तुस्वरूप ही है। इससे नेमिदेव कोई महान पुण्यावतारी भव्यपुरुष होंगे इसमें सदेह नहीं है।

ग्रंथकारने कितने ग्रन्थ बनाये उसका विशेष कथन इस ग्रन्थमें नहीं किया है अतएव इस विषयमें लाचारीके साथ विराम लेते है।

विद्वानगण ग्रन्थकी रचना और उसका विवेचन देखकर भी ग्रन्थकारकी शतमुखसे प्रशंसा करते हैं और करेंगे। हमें आशा है कि समाज भी इससे लाभ लेगी।

इस ग्रंथमें मुझसे अधिक दोष होगये हों या जिनागमके विरुद्ध जो कुछ लिख गया हो उसे सज्जनगण आगमके अनुकूल विचार करें और मुझे भी सूचित करें।

इस ग्रन्थके प्रकाशनका भार जैन समाजमें प्रसिद्ध परम उत्साही श्रीयुक्त सेठ मूलचंद किसनदासजी कापडिया सम्पादक "दिगम्बर जैन" ने स्वीकारकर समाजका उपकार किया है इसलिये मैं आपका आभारी हूं। तथा संपादन कार्यमें पूज्यवर पं० लालारामजी शास्त्री देहलीवालोंने अधिक सहायता प्रदान की है एतदर्थ मैं आपका भी चिर ऋणी हूं।

देहली, मगसिर वदी ७
वीर संवत् २४९१

समाज सेवी–
नन्दनलाल जैन वैद्य।

निवेदन।

विस्तारभयसे इस ग्रन्थके दो भाग किये गये हैं जिसमेंसे यह प्रथम भाग प्रकट किया जाता है और दूसरा भाग भी शीघ्र ही प्रकट होगा और "दिगम्बर जैन" के १८ वे वर्ष (वीर सं० २४५१) के ग्राहकोंको भेंट भी दिया जायगा।

प्रकाशक।



श्री गुणभूषणस्वामी विरचित—

श्रावकाचार।

अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य और अनंतसुखसहित, बाह्य और अभ्यंतर अत्यंत पवित्र—समस्त दोषरहित अनुपम और तीन जगतमें पूज्य श्री जिनेन्द्र भगवानको अतिशय विशुद्ध भावोंसे भक्तिपूर्वक नमस्कारकर गृहस्थोंके सदाचार संक्षेपसे कहता हूं।

जिनका विशुद्ध चारित्र साक्षात् सर्वोच्च दशा को प्रकट कररहा है, जिनकी बाह्य और आभ्यंतरवृत्ति क्रोध, मान, माया, लोभ और कामादि विकारोंके नष्ट होनेसे पवित्र होरही है, और जो तीन जगतमें महामान्य है ऐसा मैं श्रीमद् गुणभूषणाचार्य गुरुदेवको बारंवार अति विनीतभावसे नमस्कार करता हूं।

जो प्रत्यक्षमें निर्दोष चारित्रकी मूर्ति होनेसे सदाचारकी महिमाको साक्षात्कार करा रहे हैं। और इसीलिये त्रिजगतवंद्य हुए हैं। ऐसे गुरुदेवसे चारित्रका अनुभवात्मक बोध पाकर यह ग्रन्थ प्रकट करता हूं॥ १॥

संसारमें अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्य अधिक सदाचारी, पवित्र और ज्ञानवान होसक्ता है, अतएव मनुष्य जन्म सबसे

श्रेष्ठ परंतु दुर्लभ है। कदाचित् मनुष्य जन्म पाकर भी यदि सदाचारी न हुए तो मनुष्य जन्म पाना एक प्रकारसे व्यर्थ ही है, अतएव सदाचारी कुलमें जन्म लेना और भी कठिन है। उत्तम कुलमें जन्म लेकर भी विवेकी होना बहुत दुर्लभ है। सब कुछ होने पर भी सद्धर्म–सन्मार्गका अनुयायी होना बहुत ही दुर्लभ है॥२॥

सद्धर्मको धारणकर यदि कुछ अपना हित नहीं किया, तो उस परम दुर्लभ सद्धर्मसे क्या लाभ? यदि मिथ्यात्व कर्मका प्रबल उदय हो और भले ही उत्तम कुलमें (जैन कुलमें) जन्म धारण कर लिया तो उससे कुछ लाभ न होकर उलटी हानि ही होगी। यदि उत्तम कुलको पाकर सम्यक्त्वसहित सदाचारका पालन किया जाय–अपनी आत्मशक्तिको अहिंसादि व्रतोंके धारण करनेमें लगाया जाय–आत्मस्वरूप–रत्नत्रयके प्राप्त करनेमें सयोजित किया जाय तो सद्धर्म धारण करनेसे यथार्थमें लाभ होसक्ता है। सदाचारका पालना ही अपने कर्तव्योंका पालना है। और जबतक सदाचार पालन करनेमें असमर्थता है–कायरता है–शक्ति हीनता है, तबतक सद्धर्म धारण करनेसे लाभ नहीं होसक्ता–कर्तव्योंका पालन नहीं होसक्ता–सन्मार्गमें प्रवृत्ति नहीं होसक्ती। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि सम्यक्त्व सहित सदाचारका पालन करना ही सद्धर्मका धारण करना है। इसलिये मनुष्योंका कर्तव्य है कि वे सदाचारको पालन करें, और सम्यक्त्वसहित सन्मार्गके अनुगामी बनें तभी वे आत्महित कर सके है॥ ३॥

जिस प्रकार मेघ विना वृष्टि नहीं होसक्ती ठीक उसी प्रकार धर्मके विना नर जन्म, और स्वर्गकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती।

इतना ही नहीं किन्तु उत्तम उत्तम पद और सर्व मनोरथ सिद्ध नहीं हो सके। सद्धर्म धारण करनेसे ही सभी दयाका पालना—समस्त जीवोंको आत्म समान मानना-द्यूतादि दुर्व्यसनोंका त्याग करना, हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापोंको छोड़ना, मन और इंद्रियोंका निग्रह करना आदि उच्च कार्य हो सके हैं, जिससे शुभ कर्मोंका बंध होता है, और अशुभ कर्मोंकी निवृत्ति पूर्वक उत्तम पद और मनोवाञ्छायें पूर्ण होती हैं। सद्धर्म धारण करनेसे आत्मा अपनी शक्तियोंका विकास करता है-आत्मतत्वको पहचानता है-अपनी अभ्यंतर वृत्तिको पवित्र बनाता है-पापसे डरता है और श्रेष्ठ कार्य करनेमें तल्लीन होता है। यदि संसारमें उन्नत पथपर चलनेका मार्ग है तो एक मात्र सदाचार और सम्यक्त्व धारण करना है। इसके बिना आत्म उद्देश पूर्ण नहीं हो सके, सर्वोत्तम पद नहीं पहुंच सके और आत्म सिद्धि नहीं कर सके है। इसलिये सदाचार पालन करनेमें अपना सुन्दर हित है, सर्व सिद्धि है, मोक्षमार्ग है। सम्यक्त्व सहित सदाचारकी महत्ता भी आत्मसे अनन्तगुणी है। सदाचार सर्वोत्तम और महान है, यही आत्म धर्म है, सद्धर्मका स्वरूप है। ऐसे सद्धर्मसे ही मनुष्य, नरेन्द्र, देवेन्द्र, धरणेन्द्र आदि उत्तम पदोंको प्राप्त होते हैं और कर्ममलको नष्टकर अविनाशी सुखके भागी होते हैं॥ २॥

जिस धर्मसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है वह धर्म रत्नत्रयात्मक है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकताको रत्नत्रय कहते हैं॥ १॥

सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरुका श्रद्धान करना

सच्चा देव-सर्वज्ञ-निर्दोष और हितोपदेशी आत्माको कहते हैं। अल्पपुरुष सच्चा देव नहीं हो सकता। अज्ञानता, दुःख और संसार बंधनका कारण है। आत्माकी पतितावस्था अज्ञानतासे ही है। अज्ञानताको नाश करना ही उन्नति है। आत्माका ज्ञान स्वभाव है। जिस समय यह आत्मा अपने समस्त ज्ञानावरणी कर्मको दूरकर-अज्ञानताको नष्टकर तीन जगत और तीन कालके समस्त चराचर द्रव्य और उसकी अनंतानंत पर्यायोंको युगपत् अपने अतीन्द्रिय आत्मज्ञानसे प्रत्यक्ष जानता है तब ही वह सर्वज्ञ कहलाता है। और सर्वज्ञ ही सच्चा देव हो सकता है।

और देशघाति स्पर्धकोंके उदय होनेसे जो सम्यग्दर्शन होता है वह क्षायोपशमिक है। इन प्रकृतियोंके उपशम मात्रसे जो सम्यग्दर्शन होता है वह औपशमिक है।

आज्ञा मार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमावगाढे च ॥

आज्ञोद्भव १, मार्गोद्भव २, उपदेशोद्भव ३, सूत्रोद्भव ४, बीजोद्भव ५, संक्षेपोद्भव ६, विस्तारोद्भव ७, अर्थोद्भव ८, अवगाढ ९, और परमावगाढ १० इस प्रकार सम्यग्दर्शन दश प्रकार है।

सम्यग्दर्शन ज्ञानकी वृद्धिसे सम्बन्ध नहीं रखता है ऐसा नहीं है कि विशेष ज्ञानीके ही सम्यग्दर्शन हो। हां यह खूबी बात है कि सम्यग्दर्शन होनेसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। एक आत्मज्ञानी अल्पज्ञानी भी सम्यग्दृष्टि होजाता है परन्तु आत्मज्ञानशून्य विशेष ज्ञानी भी मिथ्यादृष्टि रहता है। शास्त्रोंके अभ्यास बिना अर्हन्त भगवानकी आज्ञाको सत्य समझकर श्रद्धान करना आज्ञा सम्यग्दर्शन

। वीतराग म[illegible] आदिसे श्रद्धान करना मार्ग सम्यग्दर्शन
तीर्थंकर [illegible] के सुननेसे जो सम्यग्दर्शन
और श्रावकोंके चारित्र-

बहुतसे मनुष्य यह तर्क करते हैं कि सर्वज्ञ कोई हो नहीं सक्ता परन्तु यह बात नहीं है क्योंकि हम ज्ञानकी तरतम अवस्था देखते हैं कि किसीमें ज्ञान कम है तो किसीमें ज्ञान अधिक है। इसका क्या कारण? ज्ञानका न्यूनाधिकपना यह साबित करता है कि किन्हीं आत्माओंमें सबसे अधिक भी ज्ञान होगा। और वे ही सर्वज्ञ हैं।

जिस समय सूर्य घनघोर बादलोंसे आच्छादित है-ढका हुआ है, उस समय सूर्यका प्रकाश अति मंद हो जाता है परन्तु जैसे२ बादल फीके पडते जाते है सूर्यका प्रकाश भी वैसे २ उज्वल होता जाता है और अंतमें जब सूर्य निरभ्र (बादलरहित) हो जाता है तब वह पूर्ण प्रकाशी और उज्वल हो जाता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा अपने ऊपर लगे हुए परदे (कर्म रूपी) को जैसे २ कम करता जायगा वैसे २ वह अपने ज्ञान गुणोंमें उन्नति करता जायगा और अंतमें समस्त कर्म (ज्ञानावरणी) को दूर करनेसे वह पूर्ण ज्ञानी-सर्वज्ञ होगा। जब तक ऐसा ज्ञान

दर्शक शास्त्रोंको सुनकर जो सम्यग्दर्शन हो वह सूत्र सम्यग्दर्शन है। कार्माणवर्गणा और आत्म परिणामोंकी स्थिति आदिके बीज गणितसे पदार्थोंको निश्चित जानकर श्रद्धान हो वह बीज सम्यग्दर्शन है। पदार्थोंके संक्षेप स्वरूप मात्र ज्ञानसे उत्पन्न हुआ श्रद्धान वह संक्षेपार्थोद्भव सम्यग्दर्शन है। द्वादशांग वाणीको सुनकर जो श्रद्धान हो वह विस्तारार्थोद्भव सम्यग्दर्शन है। प्रवचनके सुननेसे किसी अर्थसे श्रद्धान होना वह अर्थोद्भव सम्यग्दर्शन है। अंग और अंग बाह्यादि शास्त्रोंके जाननेसे जो श्रद्धान वह अवगाढ सम्यग्दर्शन है। केवलज्ञानसे गम्य पदार्थमें श्रद्धान होना परमावगाढ सम्यग्दर्शन है। सात प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे परिणामोंमें जितनी विशेषता होती है उसके भेदसे अनंत जीवोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन अनंत है।

आत्मामें नहीं है तब तक वह परमात्मा भी नहीं है। इसलिये सर्वज्ञ ही सच्चा देव हो सक्ता है।

समस्त मत मतांतरवाले अपने अपने ईश्वरको सर्वज्ञ मानते हैं, वे सर्वज्ञ हैं या नहीं ? इस वाद विवादकी यहां पर आवश्यकता नहीं है। यहां पर तो इतना ही विचार करना है कि यदि यह कल्पना सत्य ही समझ ली जाय कि सब मतमतांतरोंके माने हुए ईश्वर सर्वज्ञ हैं ? तो पुन. मतभेद क्यों ? मतभेदका कुछ कारण अवश्य ही होना चाहिये। वह कारण है निर्दोषता। संसारी जीवोंकी आत्मा दोषोंसे-विकारोंसे लिप्त होनेसे कर्माधीन है-परतंत्र है। जन्म मरणकी व्याधिसे अत्यंत दुःखित है। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भयंकर विकारोंसे अत्यत क्लेशित हैं। मोहसे विह्वल है-अपने असली स्वभावसे च्युत है, इच्छासे भयभीत है विवश है। और भी दोषोंसे अपवित्र है, मलिन है, पतित है। यह अवस्था आत्माकी दोषोंसे ही होरही है। दूषित वस्तु पूज्य नहीं होती। निर्दोषता ही पवित्रताका कारण है। निर्दोष आत्मा ही सच्चा देव होसक्ता है। जबतक आत्मा पूर्ण निर्दोष नहीं हुई है तबतक वह परमात्मा नहीं होसक्ती। इसलिये जो आत्मा पूर्ण ज्ञानवान है-सर्वज्ञ है और सर्वथा दोषोंसे मुक्त है वही परमात्मा है-ईश्वर है। उसको चाहे ब्रह्मा कहो विष्णु कहो अथवा महावीर कहो।

दोष अठारह हैं-क्षुधा[१], तृषा[२], बुढापा[३], मृत्यु[४], राग[५], मोह[६], विस्मय[७], रोग[८], चिन्ता[९], खेद[१०], स्वेद[११], निद्रा[१२] रति[१३], जन्म[१४], भय[१५], द्वेष[१६], अरति[१७], और मद[१८]।

ये दोष साधारण नहीं हैं, बड़े भयंकर हैं। अर्हंत परमात्मामें ये दोष नहीं हैं। इसी लिये अर्हंत परमात्मा सच्चे देव हैं। परमात्मा दो प्रकार होते हैं एक सकल और निकल। शरीर सहित परमात्माको सकल और शरीर रहित परमात्माको निकल परमात्मा कहते हैं। जो मनुष्य अपने सदाचरण द्वारा सद्वृत्तियों द्वारा पवित्र है, हिंसा झूठ चोरी आदि पाप कर्मोंसे रहित होकर सच्चे परोपकारमें रत है- मेरी आत्माके समान समस्त जीव मेरे बंधु हैं, इस महान बुद्धिसे समस्त जीवोंपर सच्ची दया करनेमें तत्पर है। मन और इंद्रियोंको वशकर अपनी आत्माके स्वरूप चिंतवनमें लीन है, आत्मध्यानमें मग्न हैं वही मनुष्य उग्र तप द्वारा उन दोषोंको दूरकर सक्ता है। कोई ऐसा कहते हैं कि सकल परमात्माके आहार है, विहार है और मानसिक चिन्ता है, परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि परमात्माके चार घातिया कर्म नष्ट होगये हैं अतएव वे इन दोषोंसे सर्वथा मुक्त हैं, परमविशुद्ध हैं- अनंत ज्ञान-अनंत दर्शन-अनंत वीर्य-और अनंत सुख सहित हैं। अनंत गुणोंसे मंडित हैं, त्रिलोक वंदित हैं, चेतना रूप हैं। आत्मा अपनी उन्नति करते २ जब इस रूप होता है तब वह परमात्मा होजाता है, स्वतंत्र होजाता है, कर्म मल रहित शुद्ध हो जाता है। ऐसी अवस्था महान् तप द्वारा प्राप्त होती है। इसी लिये सकल परमात्मा शरीर सहित होता है, सदुपदेश देता है।

संसारी जीव विना स्वार्थके कार्य नहीं करते, कुछ न कुछ कार्य करनेमें अपना प्रयोजन रखते हैं। इसलिये वह परमात्मा भले ही निर्दोष-वीतराग है सर्वज्ञ है परंतु जबतक उससे

कुछ हित न हो सके—परोपकार न हो सके तबतक संसारी जीव बिना प्रयोजन उसे क्यों पूजेंगे—क्यों उसकी चाहना करेंगे ? अतएव उस परमात्माका लक्षण वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी है। निकल परमात्मा शरीर रहित नित्य अविनाशी सुखके भोक्ता अनंतगुण मंडित परम पवित्र, निःक्रिय लोकालोकके ज्ञाता अनंत प्रभा युक्त हैं।

शरीर रहित, कर्ममलरहित, अत्यंत विशुद्ध मुक्तात्मा जगतका कर्ता हर्ता नहीं हो सक्ता ? और कर्ता हर्ताके कारण ईश्वरकी कल्पना भी वाग्जाल है, क्योंकि नित्य, निरंजन, शरीर रहित, व्याप्त (कर्ताको माननेवाले ईश्वरको व्याप्त मानते हैं) सर्व शक्तिमान और अनादिनिधन ईश्वर क्रिया रहित होनेसे किस प्रकार जगतको बना सक्ता है ? व्याप्त पदार्थमें हलन चलन रूप क्रिया किस प्रकार हो सक्ती है ? शरीर विना मूर्तीक पदार्थोंको किस प्रकार बना सक्ता है ? क्योंकि ईश्वर स्वयं अमूर्तीक है। अमूर्तीकसे मूर्तीक वस्तु कैसे उत्पन्न हो सक्ती है ? नित्य वस्तुमें क्रिया कैसे होती है ? नित्य आकाशमें क्रिया क्यों नहीं ? ईश्वर नित्य होकर यदि क्रिया करता है तो प्रलय कालमें वह क्रिया कहां चली जाती है ? वह नित्य ही नहीं होगा। अनादि ईश्वरसे सादि कार्य कैसे हुए ? ईश्वर अनादि है तो वह जगतके विना कैसे कहा रहा ? क्रियायें इच्छासे होती हैं। ईश्वरके इच्छा होनेसे वह दोषी ठहरेगा। ईश्वरको किसने बनाया ? सर्व शक्तिमान होनेसे उसके बनाये हुए सर्व पदार्थ सुन्दर एकसे होने चाहिये। फिर कोई दुखी, कोई रोगी, कोई दरिद्री, कोई सुखी

[इत्यादि विषम क्यों बनाये ? एकको अच्छा और एकको बुरा बनाना सभ्य आत्माका काम नहीं। ईश्वरने ईश्वर कर्ता निंदक–चोरी करने वाले–व्यभिचार करने वाले क्यों बनाये ? यदि दण्ड देनेको, तो यह बात ठीक नहीं क्योंकि प्रथम ऐसे जीव पैदा करना और फिर उनको दंड देना यह सभ्यता और न्यायके विरुद्ध है। कर्म हम करें और उसका फल ईश्वरसे मिले यह असंभव है। जो करेगा वह पायेगा। जो भोजन करेगा वह तृप्त होगा। एक ईश्वरसे परस्पर विरोधवाले नित्य और अनित्य कार्य एक समयमें नहीं हो सक्ते। एक समयमें एक कारणसे एक ही क्रिया होगी। संसारमें अनंत परस्पर एक दूसरेसे विरोधी (जैसे एक समयमें ही एक जन्म लेता है तो दुसरा मरता है-एक दु खी है तो दुसरा सुखी है) कार्य एक समयमें एक साथ होते दीखते हैं वे इश्वरसे नहीं हो सक्ते ? कर्ता हर्ता ईश्वर हो ही नहीं सक्ता। ईश्वरको कर्ता हर्ता कहना मानों ईश्वरको कलंक लगाना है। प्रत्यक्षसे ऐसा ईश्वर कर्ता दीखता नहीं है। भला मेघको कौन बनाता है ? ईश्वर, ऐसा कह नहीं सक्के। यह सायन्ससे स्पष्ट सिद्ध है कि मेघ भापसे स्वयमेव बन जाते हैं और प्रत्यक्ष इसका अनुभव है। रसोई घरमें ही परीक्षा कर सक्के हैं। विद्यार्थीवर्ग स्कूलमें मेघ बनाते हैं। फिर ईश्वरको मेघ बनाने वाला कहना कितने आश्चर्यकी बात है। इसी प्रकार और समस्त वस्तु प्रकृतिसे स्वयमेव बनती है। शरीर सहित ईश्वर बनाता है तो दीखना चाहिये, अनुमानसे सिद्ध हो नहीं सक्ता क्योंकि कर्ताका ईश्वरके साथ अविनाभावी संबंध नहीं बनता

और अविनाभावी संबंधके विना अनुमान नहीं हो सक्ता। उसमें भागासिद्ध विरुद्ध अनेकान्तिक दूषण होनेसे वह बाधित हो जाता है। आगमसे ईश्वरकर्ता सिद्ध नहीं होता क्योंकि आगम ईश्वर कृत है और आगमसे ईश्वरकर्ता। ये परस्पर अन्यो-न्याश्रय दूषण भागी है। उपमानादि प्रमाण ईश्वरको कर्ता सिद्ध नहीं कर सके क्योंकि ईश्वर समान दूसरा ईश्वर कर्ता कल्पना करना हास्यकारक बात है और उपमान प्रत्यक्ष ज्ञान लिये होता है ऐसा दूसरा ईश्वर दीखता भी नहीं। इस लिये ईश्वरको कर्ता-हर्ता कहना ईश्वरके स्वरूपमें धोखा देना है। ईश्वर तो सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी ही हो सक्ता है ॥ ७-८ ॥

अतींद्रिय पदार्थोंका उपदेश विना सर्वज्ञके नहीं हो सक्ता, प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणसे विरोधरहित संशय, विपर्यय और अनध्य-वसाय रहित, सत्य सत्य पदार्थोंका स्वरूप सर्वज्ञ विना हो नहीं सक्ता। और सच्चे शास्त्रका उपदेश विना आप्तके सिद्ध हुए नहीं होता है।

भावार्थ—आप्त (सच्चे देव) की सिद्धि सच्चे शास्त्रसे होती है। और सच्चा शास्त्र सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादन किया हुआ होता है ॥ ९ ॥

सच्चा शास्त्र- सर्वज्ञ-(वीतराग) द्वारा कहा हुआ हो। प्रमाणभूत हो (प्रत्यक्ष, परोक्ष, युक्ति, आदिसे विरोध रहित हो) वही सच्चा शास्त्र है, आगम है। क्योंकि वीतराग सर्वज्ञके किसी प्रकारका राग और द्वेष नहीं है जिससे वह अन्यथा प्रतिपादन करें। जिसको कुछ स्वार्थ होता है, राग होता है, द्वेष होता है, अज्ञान होता है, कपट होता है, वह पुरुष अन्यथा भी कह सक्ता है।

वीतराग सर्वज्ञ प्रभुके उक्त दोष नहीं होनेसे उनके कहे हुए आगम प्रमाणभूत हैं, सत्य हैं। इसका भी हेतु यह है कि इन आगमोंमें प्रत्यक्ष परोक्ष किसी प्रकार विरोध नहीं है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित होता है वह सत्य नहीं होता, प्रमाणभूत नहीं होता उसी प्रकार परोक्ष और युक्तिसे बाधित पदार्थ भी अप्रमाण-भूत होते है, शास्त्रकी प्रमाणता उसमें कहे हुए पदार्थोंके लक्षणमें प्रत्यक्ष अथवा परोक्षसे बाधा नहीं होना है।

आसङ्क–सच्चे देवके रागद्वेष नहीं हैं तो वे विना प्रयोजन उपदेश क्यों देते होंगे? जिससे यह माना जाय कि सच्चे देवका प्रतिपादित आगम है। सच्चे देव वीतराग होनेपर भी अपने स्वभावसे विना प्रयोजन धर्मोपदेश देते हैं–पदार्थ स्वरूप प्रतिपादन करते हैं। ससारमें ऐसे अनत पदार्थ हैं जिनको रागद्वेष कुछ प्रयोजन न होनेपर भी वे निमित्तवश स्वभावसे कार्य करते हैं। वस्तु स्वभावमें तर्क अयोग्य है मेघको कुछ प्रयोजन नहीं होनेपर जिस प्रकार वह वृष्टि करता है।

उसी प्रकार अरहंत प्रभु भी विना प्रयोजन उपदेश करते है। विना इच्छाके उपदेश होनेमें दो कारण प्रधान हैं, एक तो भव्य जीवोंका पुण्योदय जिस प्रकार जीवोंके पुण्योदयसे मेघवृष्टि आदि कार्य होजाते हैं उसी प्रकार भगवानकी दिव्यध्वनि भी खिर जाती है। यह बाह्य कारण है। अतरङ्ग कारण वचन योग है। इन्हीं दो कारणोंके योगसे अरहंतकी वाणी अनायास खिरती है ॥१०॥

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व जिनागममें कहे हैं ॥११॥

जीवका लक्षण—चेतना है। 'चेतना लक्षणो जीवः' ऐसा आगम है। चेतना ज्ञान दर्शनको कहते हैं अर्थात् जिसमें ज्ञान दर्शन हो वह जीव है। आत्मा है। यह जीव संसारी अवस्थामें कर्ता है, भोक्ता है, अपने शरीरके बराबर है, मूर्तीक है और सिद्ध अवस्थामें अमूर्तीक है—शुद्ध ज्ञान शुद्ध दर्शनमयी है।

जीव दो प्रकारके होते हैं—सिद्ध और संसारी। सिद्ध जीवको परमात्मा कहते हैं और वे समस्त कर्मोंसे रहित अष्टगुण सहित होते हैं। संसारी जीव—अनेक प्रकार हैं। सामान्यतासे दो भेद रूप हैं-त्रस और स्थावर। दो इंद्रियसे आदि लेकर पंचेंद्रिय पर्यंत त्रस हैं। और जिनके एक स्पर्शन (शरीर) इंद्रिय हो वे स्थावर हैं। इसके भेद प्रभेद होनेसे संसारी जीव अनंत प्रकार है।

जीवकी पहिचान सामान्य रीतिसे यह है कि जिसके ज्ञान हो—जो जानता हो, दर्शन हो—देखता हो। इंद्रिय हो (शरीर, जीभ, नाक, आंख और कान इनमें लगे हुए आत्म प्रदेश जिससे यह सर्व प्रकारका ज्ञान कर सके उसको इंद्रिय कहते हैं) आयु हो। श्वासोश्वास हो और बल (शरीर वचन मन) हो वह जीव है। जो क्रिया (हलनचलन) कर सक्ता है, सुख दुःखका अनुभव कर सक्ता है, किसी शरीरके आधार स्थिर रह सक्ता है, इंद्रिय और मन द्वारा समस्त कार्य करता है, जन्म मरण रूप पर्याय (अवस्था, हालत) बदलता रहता है वह संसारी जीव है। जीव नित्य है।

बहुतसे भोले मनुष्य जीवको नहीं मानते, यह उनका मानना मिथ्या है। क्योंकि शरीरके अंदर ऐसी शक्ति होना असं-

'सोऽहं' कहनेवाला आत्मा है, जीव है। तथा अनेक प्रसंगोंपर अनेक बार जाति स्मरणकर अपनी सत्ता सिद्ध करनेवाली जीवोंकी घटना बनती है। एवं भूत प्रेत संबंधी घटना भी कभी कभी प्रत्यक्ष अनुभव होती है इन घटनाओंसे जीव कोई पदार्थ है इतना ही सिद्ध नहीं होता किंतु यह भी सिद्ध होता है कि वह अनेक अवस्थामें बदलता है–पुनर्जन्म धारण करता है–आवागमन करता है–परलोकको प्राप्त होता है। अनुमानसे तो जीवकी सत्ता अव्याबाध सिद्ध होती है और वास्तविक जीव अमूर्तिक होनेसे यद्यपि इंद्रियगोचर नहीं है–देखनेमें नहीं आता तथापि अनुमानसे अच्छी तरह सिद्ध होता है। वह अनुमान इस प्रकार है 'अस्मिन शरीरे जीवोऽस्ति स्वानुभवत्वात्, सचेतनत्वात्, ज्ञानदर्शनमत्वात्, यन्नैव तन्नैव यथा घटः, इस शरीरमें जीव है वह स्वानुभव सिद्ध है, सचेतन होनेसे ज्ञानदर्शनमयी होनेसे। जो जो पदार्थ ज्ञानदर्शनमयी हैं वे जीव हैं, जो पदार्थ ज्ञानदर्शन स्वरूप नहीं हैं वे जीव भी नहीं होते जैसे घट। यह अनुमान जीवकी सत्ताको–अस्तित्वको अच्छी तरह सिद्ध करता है। आगमसे जीव सिद्ध है। मैं शरीरसे भिन्न हूं, ऐसा मानसिक स्वयं अनुभव होता है इससे भी जीवकी सिद्धि सुसिद्ध है। वर्तमानमें ऐसे उदाहरण अनेक होते दीखते हैं जो अपने पूर्व जन्मकी कथाको सप्रमाण कहते हैं और वह बात बिलकुल ज्योंकी त्यों सत्य निकलती है। इससे जीवकी सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। और एक यह भी बात है कि मनुष्य भले बुरे कर्म नित्य करता है उसका फल कोई भोगनेवाला अवश्य होना चाहिये

क्योंकि कृत कर्म निरर्थक नहीं होते। इससे तो स्पष्ट जीवकी सत्ता सिद्ध होती है। भला जीव संसारमें नहीं है तो दान पुन्य क्यों किया जाय? चोरी करनेसे किसको दण्ड दिया जाय? एक मनुष्यकी आभ्यतर वासना बहुत ही मलिन है, निंद्य है–वह सदा दूसरेका बुरा ही चाहता है। लोग कहते हैं कि तुझको इसका बडा दण्ड मिलेगा। यह ऐसा क्यों होता है? दण्ड पाने-वाला कौन है? जड पदार्थको दंड पानेका अनुभव नहीं होता और न उसके कुछ विकार ही होता है। एक मनुष्यने क्रोधसे बहुत बुरा विचार किया, यह विचार शक्ति जड पदार्थमें नहीं होती। विचार शक्तिका धारक दूसरा कोई पदार्थ है और वह जीव है। साधन सामग्रीके मौजूद रहनेपर भी जीवके चले जानेसे फिर यह शरीर क्यों पूर्ववत् कार्य नहीं करता? वह शक्ति कौनसी है जो मुर्दामें कार्य नहीं होने देती? वही जीव है। पंचभूत शरीरके विना अन्यत्र भी एकत्र होसक्ते हैं संयोजित होते हैं फिर उनमें क्यों नहीं जाननेकी देखनेकी सुख दुःख अनुभव करनेकी शक्ति पैदा होती है? इसका क्या कारण? जो दवा सचेतन प्राणीके शरीरमें दीजाती है वह अपना कार्य करती है, परन्तु वही दवा सचेतन रहित पचभूत (जड पदार्थ) में देनेसे कुछ कार्य नहीं कर सकी। इससे भी यही ज्ञात होता है कि जड पदार्थोंमें चेतना शक्ति नहीं है। और जीव पदार्थ स्वतंत्र है।

कितने ही मनुष्य जीवकी सत्ता मानते हुए भी उसका पुनर्जन्म नहीं मानते, उनको यह विचारना चाहिये कि संसारमें

पदार्थ मात्र नित्य हैं। ऐसा कोई छोटेसे छोटा, बडेसे बडा, जड अथवा चेतन पदार्थ नहीं है जिसका सर्वथा नाश होता हो। परन्तु वर्तमानमें जिन जिन पदार्थोंको विघटने हुए या उत्पन्न हुए देखते हैं वह उनका नाश, अथवा उत्पत्ति नही समझ लेना चाहिये, यह तो उनकी अवस्था बदल गई है। जैसे एक लकड़ी जलायी, तो क्या लकड़ीका द्रव्य नाश होगया ? नहीं, वह द्रव्य भस्मरूप अवस्थामें परिणत होगया। और भस्मसे पुनः मृतिका रूप होगया, धीरे २ उस द्रव्यके परमाणु अन्यरूप परिणम जाते है। इस प्रकार अनंत अवस्थामें उस द्रव्यकी परणति बदलती रहती है परन्तु वह मूल द्रव्य जैसाका तैसा प्रत्येक अवस्थामें मौजूद है नित्य है अपनी सत्ता से प्रत्येक अवस्थामें स्थिर है। उसका किसी भी प्रकार नाश नहीं होसक्ता और न होता है। हां अवस्थाओंके बदलनेको भले ही उत्पन्न हुआ और नाश हुआ मानो परन्तु यथार्थमें अपने निज रूपसे वह द्रव्य सर्व अवस्थामें मौजूद है। इस लिये न तो द्रव्य नाश ही होता है और न नवीन उत्पन्न ही होता है।

द्रव्यका यह अचल और विश्वव्यापी नियम अनादिकालसे चला आया है और अनंतानत काल पर्यंत भी इसका नाश नहीं होनेका, यह नियम अनादि निधन है। इस नियमसे जीव द्रव्यका भी कभो नाश नहीं होता जैसे अन्य द्रव्य नित्य हैं वैसे जीव भी नित्य है, अतएव उसका नाश होना नितांत असम्भव है। जब जीव द्रव्य उक्त नियमसे नित्य है अविनाशी है तो वह मरता भी नहीं, नवीन उत्पन्न भी नहीं होता किन्तु अनेक अवस्थायें

बदलता रहता है। मनुष्य पर्यायसे मरकर देव अथवा तिर्यंचादि होता है और वहांसे फिर अन्य अवस्था बदलता है। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने पुराने जीर्ण घरके गिर जानेपर दूसरे घरमें चला गया, तो उस मनुष्यका नाश नहीं हुआ। सोनेके कडे तोडकर कुंडल बनवाये तो क्या सोना नाश हो गया? नहीं, पर्याय बदल गई, ठीक इसी प्रकार जीव भी अपने कर्मानुसार अन्य अन्य पर्यायको बदलता रहता है यही उसका 'पुनर्जन्म धारण' करना कहलाता है। कृत कर्मोंका फल अवश्य भोगना चाहिये। इसी लिये जीव अपने कर्मानुसार नवीन नवीन जन्म धारण करता है और मरता है, अपने किये हुए कर्मोंका सुख दुख भोगता है। इस प्रकार अनादि कालसे जैसे बीजसे वृक्ष है और वृक्षसे बीज होता है इसमें न तो बीज प्रथम था और न वृक्ष ही, किंतु अनादि कालसे यह संतति चली आती है और चली जायगी। इसी प्रकार जीव भी अपने कर्मानुसार एक शरीर धारण करता है और पुनः मन वचन काया द्वारा कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ के विवश होकर अनेक भले बुरे कर्म करता है और पुनः उन कर्मोंके कारण नवीन जन्म धारण करता है। अर्थात् कर्मसे शरीर और शरीरसे रागद्वेष कषायें और कषायोंसे पुनः कर्मबन्ध, इस प्रकार अनादि-कालसे चक्र चल रहा है। इसी चक्रमें जीव अनादिकालसे जन्म मरण करता है। न कोई किसीको बनाता है न मारता है। यह मिथ्या कल्पना है कि ईश्वर बनाता है कर्ता है. ईश्वर कुछ नहीं बनाता है किंतु प्रकृति (कुदरत-नेचर) स्वयमेव परिणमनशील है, वह एक एक अवस्थामें स्थिर नहीं रह सकती। द्रव्य क्षेत्र काल और भवके

निमित्तसे उक्त चक्रसे स्वयमेव नवीन शरीर उत्पन्न होजाता है। और नाश होता है, परन्तु प्रत्येक अवस्थामें जीव ज्योंका त्यों उतने ही प्रदेशसे मौजूद है अर्थात् अनेक अवस्था रूप पुनर्जन्म धारण करता है।

दूसरी बात यह भी है कि स्मरण प्रमाण और प्रत्यभिज्ञानसे संसारका कार्य चल रहा है। लेना देना यह सब व्यवहार स्मरणाधीन है। आपने एक मनुष्यको पचास रुपये ऋण दिये यदि आपको स्मरणज्ञान होगा तभी आप उन रुपयोंके लेनेके अधिकारी हैं। अथवा जिसको रुपये दिये हैं वह यही है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान होना चाहिये अन्यथा किससे रुपये वसूल हों? संसारका व्यवहार मात्र इन दोनों ज्ञानोंसे होरहा है। इन ज्ञानोंके बिना एक क्षण निर्वाह नहीं होसक्ता है। ये दोनों ज्ञान प्रमाणभूत हैं, सत्य हैं—यथार्थ हैं।

बालक उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होते ही वह तत्काल दूध पीने लग जाता है इसका क्या कारण? सद्य जात बालकको दूध पिलाना किसने सिखलाया? विना सिखलाये दूध पीना उसको कहांसे आगया? यदि इस बातका विचार करेंगे तो दूध पीनेमें कुछ कारण अवश्य ही मानना पड़ेगा, विना कारणके कार्य हो नहीं सक्ता। बालकको दूध पीनेका कारण क्या? बालक उक्त स्मरण और प्रत्यभिज्ञानसे दूध पीता है। उसने पूर्व जन्ममें अनंतवार दूध पिया था उसका उसको स्मरण होगया और दूध पीनेकी क्रिया माताके नवीन स्तनोंके स्पर्शसे प्रत्यभिज्ञान द्वारा होगई। इन दोनों ज्ञानोंसे उक्त प्रकार पुनर्जन्म निराबाध सिद्ध है। विना

स्मरणके वह बालक दूध पी नहीं सक्ता और विना प्रत्यभिज्ञानके वैसी क्रिया नहीं करसक्ता है। स्तनपान करनेमें मुख्य कारण उक्त ज्ञान है। और वे ज्ञान पुनर्जन्मको अच्छी तरह सिद्ध करते हैं।

इतना ही नहीं किंतु कृत कर्मोंका फल पुनर्जन्मको सिद्ध करता है। वृक्षका उत्पन्न होना बीज विना नितान्त असंभव है। इसी प्रकार शरीरका धारण करना पहले संचित कर्मोंके विना असंभव है। कारणके विना कार्य होता नहीं और वे कर्म पुनर्जन्मको स्पष्ट प्रमाणित कर रहे हैं।

पुनर्जन्मके उदाहरणभूत दर्शन और जाति स्मरणसे कभी २ प्रत्यक्ष भी होते हैं। ग्वालियरके पास एक गांवका बालक अपने पहले जन्मकी सब बातें बतलाता है, महाराज ग्वालियरने स्वयं उसे बुलाकर सब बातें पूछी हैं और वे ज्योंकी त्यों निकली हैं। पहले जन्ममें वह बालक डकू था किसने उसे किस प्रकार मारा सब बतलाता है। मारनेवाला अभीतक मौजूद है। लडका मारनेवालेपर देखते ही क्रोध प्रगट करता है और बदला लेनेके लिये कहता है। इसलिये यह तो सिद्धांत है कि जीव पुनर्जन्म धारण करता है। इसका विशेष विवरण युक्तिपूर्ण विश्वतत्त्व प्रकाशमें स्पष्ट है। वनस्पति आदिमें जीव है यह बात विज्ञानाचार्य जगदीशचंद्र वसु भी सिद्ध करते हैं। जब वनस्पति आदिमें जीवसत्ता सिद्ध है तो मनुष्य आदि इतर प्राणीमें जीवका अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध है।

संसारी जीव रागद्वेष कषायोंसे ज्ञानावरणादि अष्ट पुद्गलीक कर्मोंका कर्ता है। अर्थात् नवीन कर्मोंको बांधता है और अशुद्ध

निश्चय नयसे रागादि भावोंका कर्ता है। शुद्ध निश्चयसे जीव कर्ता नहीं है। शुद्ध ज्ञान शुद्ध दर्शन स्वभावमय है—व्यवहारसे घट पटादिका कर्ता है। देखते हैं—मनुष्य घट पट आदि बनाता है।

उसी प्रकार यह संसारी जीव ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंके फलोंका भोगनेवाला है। रागद्वेषादिसे उत्पन्न हुए कर्मोंका भोक्ता है। अर्थात् कृत कर्मोंके उदयसे प्राप्त सुख दुःख, पुत्र, मित्र, धन, अज्ञान, निद्रा और अनेक अवस्थायें—नर नारकादि रूप सबका भोगनेवाला है। जिसने जैसा कर्म किया है—जिसने जैसा बीज बोया है उसका फल वह जीव भोगनेवाला है। ऐसा नहीं है कि चोरी, व्यभिचार और प्रपंच एक मनुष्य करे, और उसका फल (दण्ड) अन्य कोई दूसरा भोगे। अथवा ईश्वर भोगे या ईश्वर उनकी प्रार्थना सुनकर माफ कर दे। ईश्वर ऐसा कर नहीं सक्ता क्योंकि ईश्वरके रागद्वेष नही है। विना रागद्वेष कषायोंके दण्ड देना क्षमा करना बन नहीं सक्ता। इसलिये यही निश्चय है कि जिसने जैसा किया है वह उसका फल भोगेगा। प्रत्यक्ष भी यही देखते हैं कि जो चोरी करता है वही दण्डित होता है। इसलिये संसारी जीव अपने कृत कर्मोंका भोक्ता है। शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध ज्ञान और शुद्ध दर्शनसे उत्पन्न हुआ अनंत आत्मीक सुखका भोक्ता है।

यद्यपि जीवका स्वभाव ज्ञान और दर्शनमय है तथापि संसारी जीवके ज्ञानावरणी आदि आठ कर्म अनादि कालसे संबंधित हो रहे हैं इसलिये ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्मका पर्दा (आवरण) इसके ऊपर हो रहा है जिसके फलसे उसका ज्ञान

संबन्ध है, कर्म अथवा शरीर पौद्गलीक हैं, रूप रस स्पर्श गंध सहित हैं। उनके सहवाससे यह संसारी जीव भी स्पर्श रस गंध वर्णवाला हो रहा है। परन्तु यथार्थमें यह ऐसा नहीं है। यह अपने स्वभावसे दूसरे रूप परिणमन हो रहा है। जिस प्रकार हल्दी पीली होती है चूना सफेद, परन्तु दोनोंके–हल्दी और चूनाके मिलनेसे लाल रंग होजाता है ठीक इसी प्रकार यह आत्मा अपने स्वभावसे अन्यरूप परिणमन हो रहा है–मूर्तीक होरहा है। जिस समय यह सत्पुरुषों द्वारा–परोपकार, सदाचार, आत्मचिन्तन करता हुआ धीरे २ तप और श्रेष्ठ ध्यान द्वारा समस्त कर्मोंको भस्म कर देता है तब यह कर्म बंधन रहित होनेसे पूर्ण स्वच्छ–अमूर्तीक अपने असली स्वभाव रूप होजाता है–पुनः कर्म बन्ध नहीं होनेसे अनंतकाल पर्यन्त अतीन्द्रिय सुखका भोक्ता होजाता है। जिस प्रकार खानिमेंसे अशुद्ध सोनेको रसायन द्वारा शुद्ध कर लिया जाय तो वह सोना कल्पान्त कालमें पुनः अशुद्ध नहीं होता यह स्थूल दृष्टान्त है, इसी प्रकार आत्मा कर्ममलको दूर करनेसे अपने असली अमूर्तीक स्वभावमें स्थिर रहती है। इसलिये आत्मा अमूर्तीक है और संसारमें रहनेसे कथंचित् मूर्तीक भी है।

यह संसारी जीव स्वदेह परिमाण है। समस्त जीवात्मामें शक्ति एक समान है, गुण सबमें एक सदृश और समान हैं, लोकमात्रके प्रदेश बराबर हैं। कोई भी जीव शक्तिमें गुणमें और प्रदेशोंकी संख्यामें न्यूनाधिक नहीं है।

जगतमें यह देखते हैं कि कोई जीव अति सूक्ष्म है तो कोई जीव अति स्थूल है। एक जलबिन्दुमें माइस्कोप (खुर्दबीन–

सूक्ष्मदर्शक यन्त्रके देखनेसे १७०० सत्रहसौ जीव प्रत्यक्ष दीखते हैं। यदि इससे भी अच्छा सूक्ष्म पदार्थोंको देखनेका यन्त्र आविस्कार हो तो शायद अधिक जीव इस एक जलबिंदुमें दृष्टिगोचर हो सकें। एक तो इतना सूक्ष्म जीव है, दूसरा हाथी जैसा स्थूल है, इसका क्या कारण? ऐसी तर्क अवश्य पेश होती है। जब जीवकी शक्ति एक समान है तो यह घटना किस प्रकार होती है? पदार्थोंकी ऐसी विषम रचना देखकर ऐसी शंकाका होना स्वाभाविक है। जीवोंके सूक्ष्म और स्थूल शरीर होनेका कारण क्या? पदार्थोंका परिणमन (अवस्थाओंका बदलना) स्वद्रव्य क्षेत्र काल और भावोंके निमित्तानुकूल होता है। और यह बात प्रत्यक्ष प्रत्येक समय अनुभवमें आती है। एक चनेके बीजको योग्य द्रव्य क्षेत्रकालकी अनुकूलता मिलती है तो वह अंकुरित होता है अन्यथा नहीं। अंकुरित होनेपर भी पानी हवा, गरमी और खेतकी मिट्टी अनुकूल मिलेगी तो वह बहुत अच्छी तरह बढेगा,

---

१ बहुतसे लोग, पानी छानकर पीना जैन धर्मका कर्तव्य है ऐसा समझकर बिना छना पानी पीलेते हैं, उनको इतने जीवोंकी हिंसाका विचार करना चाहिये। जलकी अपेक्षा और पदार्थोंमें भी अति सूक्ष्म जीव होते हैं। रोगके कीटाणु (विषम रोगको फैलानेवाले जीव) इससे भी अति सूक्ष्म होते हैं।

२–बहुतसे मनुष्य प्रकृतिके इस विषम परिणमनको देखकर ही सृष्टिकर्ताको अंगीकार करते हैं परन्तु यथार्थमें बात यह नहीं है। पदार्थोंका परिणमन इससे भी अधिक आश्चर्यकारी होता है। किसी किसी समय बादलोंकी रचना, यकायक मेघ बरसना, भयंकर तुफान होना, प्रकृतिसे आश्चर्यकारक देखते हैं।

फलरूप होगा अन्यथा हीनाधिक होगा। संसारी जीवकी भी यही अवस्था है जब इसको अपने नाम कर्मके अनुसार स्थूल पर्यायके नोकार्माण और कार्माण वर्गणाओंका निमित्त मिलता है तब इस जीवसे स्थूल शरीर योग्य पुद्गल परमाणुओंका सम्बन्ध होता है और तभी इस जीवके प्रदेश उस शरीरानुसार विस्तृत हो जाते हैं। यदि सूक्ष्म शरीरके प्रदेशोंका सम्बन्ध होता है तो जीवके प्रदेश संकुचित हो जाते हैं परन्तु प्रदेशोंकी संख्या घटती बढती नहीं है, प्रदेशोंमें संकोच विस्तार की विलक्षण शक्ति है।

दीपकको जितने क्षेत्रकी अनुकूलता मिलेगी वह उतने ही क्षेत्रमें प्रकाश करेगा। एक दीपकको एक छोटी मटकीमें (घड़ेमें) रख दिया जाय तो वह दीपक घट प्रमाणमें ही अपना प्रकाश कर सकेगा। यदि वह दीपक एक कमरामें रख दिया जाय तो वह सर्व कमराको प्रकाशित कर सकेगा। क्योंकि दीपकके प्रकाशमें संकोच विस्तार शक्ति है। उसी प्रकार आत्माके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार शक्ति है। जिससे उसको नाम कर्मके उदयसे जैसा छोटा या बडा शरीर प्राप्त होता है तदनुसार वह अपने आत्म प्रदेशोंकी संकोच विस्तार शक्तिसे छोटे या बड़े आकारमें प्राप्त होजाता है।

दूसरी यह भी बात है कि जैसे तीव्र, तीव्रतर अथवा मंद भाव होंगे वैसे ही निमित्त आकर मिलते हैं। वडका बीज अत्यंत अल्प मात्र है परन्तु उस बीजकी शक्ति महान होनेसे कितना बडा वृक्ष होता है। इसी प्रकार तीव्रादि भावोंकी शक्तिसे वैसे ही द्रव्य क्षेत्र कालकी योग्यता मिलती है। तदनुसार आत्माके

प्रदेश संकोच विस्तार शक्तिसे शरीर प्रमाण होजाते हैं।

जीवकी यह अवस्था कर्मके कारण हुई है इसीलिये ऐसे जीवको संसारी जीव कहते हैं। कर्म अनादिकालसे संबंधित हैं। ऐसा नहीं है कि प्रथम जीव शुद्ध था फिर कर्म आकर मिले। अथवा जीव और कर्मोंका संयोग अमुक कालमें हुआ। बहुतसे मनुष्य यह तर्क करते हैं कि संयोग पूर्वोत्तर कालवर्ती होता है इसलिये जीव पहले था फिर कर्म मिले, इसलिये वे कर्म कैसे मिले? कौनने उनको जीवके साथ मिलाया ऐसी झूठी तर्कसे वे वस्तु स्वभावको न जानकर जगतको सादि और किसी एक विशिष्ट पुरुषसे रचित बतलाते है। परंतु यह तर्क बहुत गहरी भूल है। वे वस्तु स्वभावको–प्रकृति धर्मको बिलकुल ही नहीं जानते, उनको पदार्थोंका परिणमन–परिवर्तनका कुछ ज्ञान ही नहीं है। पदार्थोंकी अवस्थाओंका परिणमन (हालत बदलना) दो प्रकार होता है। स्वत और परत। पदार्थोंके स्वत परिणमनमें (द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी योग्यता) निश्चय कालकी प्रेरणा शक्ति और द्रव्यकी आत्मशक्ति, क्षेत्रकी आधार शक्ति इत्यादि कारण सम्बंध रखते हैं। इन कारणोंके विना द्रव्य परिणमन कर नहीं सक्ता और यह सिद्धान्त है कि द्रव्य एक स्वरूपमें–एक अवस्थामें–एक पर्यायमें कभी स्थिर नहीं रह सक्ता। चाहे वह कोई भी द्रव्य हो उसका परिवर्तन अवश्य

---

१ जीवके असंख्यात प्रदेश हैं। और उन प्रदेशोंमें इतनी शक्ति है कि वे समस्त लोकको अपने प्रदेशोंसे पूर्णकर सक्ते हैं। लोक पूर्ण अवस्था समुद्घातके कारण होती हैं। समुद्घात मूल शरीरको न छोड़कर आत्म प्रदेश किसी कारणसे शरीरसे बाहर निकलनेको कहते है और वे सात प्रकार हैं।

ोगा, यह बात दूसरी है कि किसीकी अवस्था शीघ्र बदलती है और किसीकी कुछ समय बाद परंतु एक अवस्थारूप स्थिर कोई ी द्रव्य नहीं रह सका। द्रव्यका स्वभाव परिवर्तनशील है।

स्वतः परिणमनमें भी द्रव्योंका संयोग दो प्रकार होता है— एक संततिरूप, दूसरा व्यतिक्रम। वृक्ष और बीजका परिणमन संयोग संततिरूप है, पुत्र और पिताका संयोग भी संततिरूप है— पितासे पुत्र, और पुत्रसे पिता, बीजसे वृक्ष, और वृक्षसे बीज इस प्रकार संयोग अनादि कालसे धाराप्रवाहरूप चला आता है इस संयोगमें यह नहीं कह सक्ते कि अमुक प्रथम था, क्योंकि तत्काल यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह किससे उत्पन्न हुआ? इस लिये यह संयोग पद्धति संतति रूप है। ठीक उसी प्रकार कर्म और संसारी जीवका संयोग संतति रूप अनादिसे है। और वह विभाव रूप सत्य है, और होनी ही ऐसा चाहिये क्योंकि प्रकृति धर्म इस प्रकार संतति रूप परिणमनको धारण कर रहा है। जो लोग इस प्रकार नहीं मानते हैं उनके यहां वस्तु नाश और शून्यताका प्रसंग आयेगा, वह असंभव है। वस्तु स्थिति इस प्रकारके परिणमन विना रह नहीं सक्ती। इसलिये यह प्रमाण सिद्ध सत्य सिद्धान्त है कि संसारी जीवके साथ कर्मोंका अनादि-कालसे संयोग है। और इसी लिये जगत अनादि निधन है इस न्यायसे जगतको बनानेकी किसीको आवश्यकता नहीं रही। वह स्वतः सिद्ध अनादिकालसे चला आया है और अनंतकाल व्यतीत होने पर भी कभी नाश नहीं होगा।

संसारी जीवके पांच भेद है—एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन

कि जो शीत और द्रवत्वगुण लिये हो, ऐसा पुद्गल परमाणुओंका विकार और उसकी पर्यायको जलकाय कहते हैं। जिस जलमेंसे जलजीव निकल गया हो उसको जलकायिक कहेंगे। जैसे मृत मनुष्यका शरीर। जलकायमें रहनेवाला एक इन्द्रिय-स्पर्शन मात्र इंद्रिय धारक और जलकाय रूप अपने आत्मप्रदेशको धारण करनेवाला जलजीव है।

अनेक मनुष्य पानीको ही जलजीव मानते हैं यह उनकी भूल है। पानी जड पदार्थ है, अचेतन है, हां वह जलजीवकी काय और कायिक हो सक्ता है परन्तु वह स्वयं जलजीवरूप नहीं है। पानी छाननेसे त्रस जीव जो जलमें अपना वास करते हैं-रहते हैं (पानीमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म और स्थूल मछली आदि जीव रहते हैं) उनकी रक्षा होती है, यदि यत्नाचार पूर्वक जीवाणी (बिलछन) जहांकी तहांपर पहुचाई जाय तो। परन्तु जलजीवकी दया गृहस्थोंसे नहीं पल सक्ती, और न गृहस्थ इसका त्यागी भी है। वह जलजीव छाननेसे बाहर नहीं हो सक्ता है क्योंकि जलमात्र उसकी पर्याय है। यह बात दूसरी है कि जलसमुदायमेंसे थोडा पानी निकालनेसे वह जलजीव अपनी पर्यायको छोड जाता हो। और वह जल, जलकायिक रह जाता हो। कुछ भी हो, यह जैन सिद्धान्तसे विशेष निर्णेतव्य विषय है परन्तु यह निश्चित सिद्धांत है कि जिस समय जल जीव रहित होता है वह जल जड पदार्थ है।

कुछ मनुष्य यह समझते हैं कि जलको गरम करनेसे जलजीव उसमें ही मर जाते हैं और पीनेसे भी मर जाते हैं तो जलको गर्म क्यों करना चाहिये, मुनि ब्रह्मचारी गर्म जल क्यों पीते हैं। वे

लोग पानीके गर्म करनेके तत्वको बिलकुल समझे ही नहीं है। पानी योनिरूप द्रव्य है इसमें निमित्त मिलनेसे दूसरे असंख्य जीव उत्पन्न हो सके है। पानीको छानकर तत्काल गर्म करनेसे जलमें अनेक अन्य जीव उत्पन्न होनेवाली योनि कुछ समयकी मर्यादाके लिये नष्ट होजाती है जैसे गेहूं चणा योनिरूप हैं—सचित्त हैं—निमित्त संयोग (मिट्टी पानी हवा और गर्मी) के मिलनेपर अंकुरित होसक्के है—इनमें जीव उत्पन्न होनेकी शक्ति होजाती है। वैसे ही सचित्त जल भी जीव उत्पन्न होनेका स्थल है। जलको छाननेसे भी अल्प समयके लिये त्रस जीवोंकी दया अवश्य पल सक्ती है परन्तु सचित्तता नष्ट नहीं होसक्ती। हां कषाय द्रव्योंके सयोगसे वह अति अल्प समयके लिये नष्ट हो सक्ती है। दूसरे गर्म जल निरोग है। प्रकृति और इंद्रियोंके अनुकूल है। जलको छाने विना कभी गरम नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे साक्षात् त्रस जीवोंका घात होता है और ऐसा जल पीनेसे मास खानेका भी अतीचार स्पष्ट होता है। गरम पानीमें ठंडा पानी नहीं डालना चाहिये क्योंकि उससे भी वह जीव बाधा अवश्य होगी। इसलिये पानीको विना छाने उपयोग नहीं करना चाहिये।

जिस प्रकार जलके चार भेद हैं उसी प्रकार पृथ्वी, तेज, वायु, वनस्पतिके भी चार चार भेद हैं। और उनकी योनी इस प्रकार—जलकाय ७ लाख, पृथ्वीकाय ७ लाख, तेजकाय ७ लाख, पवनकाय ७ लाख और वनस्पतिकाय १४ लाख है।

एकेंद्रिय जीवके इंद्रिय बल आयु और श्वासोश्वास ये चार

प्राण होते हैं। इन प्राणोंसे ही इनकी जीवनावस्था होती है। ये जीव संमूर्च्छन होते हैं इसलिये निमित्त कारण द्रव्य क्षेत्र कालकी योग्यता मिलनेपर ये स्वयं उत्पन्न होजाते हैं और बढ़ते हैं। इनके उत्पन्न होनेमें योग्य निमित्त ही कारण है।

दो इंद्रिय लट कुंथु आदि हैं ये भी संमूर्छन हैं। इनके पांच प्राण और भाषा होती हैं। इसी प्रकार तीन इंद्रिय जीव चिंटी-चिंटा आदि होते हैं। चार इंद्रिय जीव मक्खी, पतंग, भ्रमर, आदि हैं। पंचइंद्रिय जीवोंके दो भेद हैं—संज्ञो और असंज्ञी। जिनके मन है—विचार करनेकी शक्ति है वे सज्ञी पंचइन्द्रिय हैं और जिनके मन नहीं वे असंज्ञी हैं। सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्यादि हैं इनके दश प्राण होते हैं। गाय घोड़ा आदि तिर्यंच हैं ये भी पंचेंद्रिय सज्ञो हैं।

समस्त जीव पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। पर्याप्ति छह हैं—आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोश्वास, भाषा और मन। जो जीव इन पर्याप्तियोंको पूर्ण करे विना ही मृत्युको प्राप्त हो जांय वे अपर्याप्त हैं जिनके पर्याप्त नाम कर्मका उदय है वे पर्याप्त जीव कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीवके चार पर्याप्ति होती हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असैनी पंचइन्द्रिय जीवके पांच पर्याप्ति होती हैं और सैनी पंचेन्द्रिय जीवके छह पर्याप्ति हैं। जिस समय

---

१ समूर्छन, गर्भ, उत्पाद तीन प्रकार जन्म हैं। मातापिताके वीर्य विना, निमित्त कारणसे उत्पन्न होनेको समूर्छन जन्म कहते हैं। माता पिताके वीर्यसे उत्पन्न हो उसे गर्भ कहते हैं वह जरायुज, अंडज, पोत तीन भेदरूप है। उत्पाद शय्यासे जन्म उत्पाद कहलाता है।

दोनों शरीर अभेद्य हैं अनिवार्य हैं। ये दोनों शरीर प्रत्येक संगीन पदार्थोंको भेदकर निकल जाते हैं। इनको कोई रोक नहीं सक्ता। ये अत्यंत सूक्ष्म हैं परन्तु प्रदेशोंकी अपेक्षा अनंतगुणित हैं। ये इंद्रियोंसे दीखते भी नहीं। इनका संबंध जीवके साथ अनादि-कालसे है। जबतक इन शरीरोंका बंधन आत्माके साथ है तबतक वह संसारी है और समस्त कर्म बंधनसे मुक्त होनेपर यह जीव सीधा ऊर्ध्वगमन करता है।

जीव और पुद्गल द्रव्योंको गमन करनेमें बाह्य सहायता धर्म द्रव्यकी होती है। यद्यपि दोनों ही द्रव्योंमें स्वयं क्रिया करनेकी शक्ति है तो भी उस शक्तिका उपयोग धर्मद्रव्यकी सहायतासे होता है। जैसे कि मनुष्यमें गमन करनेकी शक्ति है परन्तु पृथ्वीके आधार बिना चल नहीं सक्ता, कुछ आधार अवश्य ही चाहिये। वह आधार बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकार होता है। प्रत्येक द्रव्य उक्त दोनों प्रकारके आधारके बिना गमन नहीं कर सक्ता। इस लिये द्रव्यको गमन करनेका आभ्यन्तर आधार स्वयं द्रव्य है और बाह्य आधार धर्म द्रव्य है और इन्हीं दोनोंके स्थिर रहनेका बाह्य आधार अधर्म द्रव्य है धर्म और अधर्म (इनको पाप और पुन्य नहीं समझना चाहिये ये दोनो स्वतन्त्र द्रव्य हैं) सर्वत्र लोकाका-शमें व्याप्त हैं। अखंड रीतिसे सर्वत्र परिपूर्ण है।

समस्त कर्मोंसे रहित शुद्ध जीव जहां तक धर्म द्रव्य है, वहां तक गमन करता है और फिर धर्मद्रव्यके अभावसे वहीं पर स्थिर हो जाता है वह भाग लोकका अंत है। इसको सिद्धशिला भी कहते हैं। वहांपर वह अनंतानंत काल पर्यंत वैसी ही स्थितिमें

स्थिर रहता है। एकबार कर्मोंका नाश करनेपर पुन कर्म प्राप्ति नहीं होती—पुन संसार अवस्था—जीवन मरणावस्था प्राप्त नहीं होती है इसी लिये वही जीवन शाश्वत है, नित्य है, अविनाशीक है, अव्याबाध है। इसमें पुन विकार नहीं होता। ऐसी शुद्ध आत्मा सदैव आत्मीक अनंत सुखको भोगती है निराकुलित रहती है समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष करती है—जानती है जिस प्रकार शालिके ऊपरसे फोतड़ा निकाल लिया जाय तो पुन वह चावल किसी प्रकार अंकुरित नहीं हो सकता, ठीक इसी प्रकार कर्मबन्धनसे मुक्त आत्मा पुनः कर्मबन्धन बद्ध नहीं हो सकता। ईश्वरसे प्रेरित मोक्ष जीव पुन संसारमें आता है ऐसा जो लोग मानते हैं वह उनकी धारणा भूलभरी है। फोतड़ा निकले हुए चावलोंका उगना नितान्त असंभव है ऐसे बन्धनरहित शुद्ध जीवकी वह अवस्था होना नितान्त असम्भव है।

कोई ऐसा विचार करते हैं कि मोक्षमें कुछ खान नहीं होनेसे और स्त्रीपुत्रादि नहीं होनेसे क्या सुख मिलता होगा? ऐसे मनुष्य सुखको ही नहीं जानते सुख वस्तुकी अपनी स्थिति प्राप्त होनेमें है। रोगके रोगीको दाह लगनेमें सुख नहीं है वह तो रोग वृद्धि है किन्तु रोगके मिट जानेमें—अपनी स्थिति प्राप्त होनेमें सुख है। सुखका अर्थ निराकुलता है—चिन्ता रहितपना है। जहांपर कुछ भी आकुलता—चिन्ता है वहांपर सुख सामग्री और सब कुछ साधन होनेपर भी सुख नहीं है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आती है। जिस इंद्रियजन्य सुखको सुख मानते हैं वह आकुलता पूर्ण है, चिन्ताओंसे अति व्याप्त है।

दादकी खुजालसे होनेवाला सुख मधुर है, क्षणिक है—तलवारकी धारपर शहत (मधु) लपेटनेके समान है—क्षण सुख देनेवाला और चिर दुःखदाई है—कल्पना मात्र है। सुखरूप नहीं होनेपर भी जीवने सुख मानलिया है। यथार्थ सुख नहीं है। पर पदार्थोंसे यथार्थ सुख होता ही नहीं। सुखका मूल बीज स्वात्मा है। पर पदार्थ तो और उलटे दुःखके कारण हैं। जिन स्त्रीपुत्रादि पर पदार्थोंको सुखरूप कहते हैं वे सुखके कारण नहीं है। सुख आत्माका धर्म है। स्त्री पुत्रादि होनेपर जीना मरना, आधि व्याधि, दरिद्रता और आशाका महान दुःख है—क्षण क्षण आकुलता है—चिन्ता है इसलिये सुख इनसे जुदा है। उसका नाश नहीं होता है। उसका प्रवाह अनंत है। वह किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, उसके लिये बाह्य साधनोंकी अवश्यकता नहीं, उसके लिये कुछ करना नहीं पडता है, वह आत्माका अक्षय और अनंत भंडार है। वह पूर्ण स्वतंत्रतासे प्राप्त होता है। उसके सामने विश्वका सुख अत्यंत तुच्छ है। वह विशाल है। वह विश्वको तृप्त कर सक्ता है। अभेद्य है, अबाध है, नित्य है, पूर्ण है, परम आल्हादक है, प्रेमका पुंज है, निरुपम है, निर्विकार है, पवित्र है, निर्भय है, निरामय है, निर्द्वन्द्व है, दिव्य है, अतुल है, आनन्दमय है, शांतिमय है, ईर्षा द्वेष राग क्रोध, मान, लोभ माया, मोह आदि विकार रहित है, स्वच्छ है, निराकुलित है निश्चिन्त है और सर्वोत्कृष्ट है। भला ऐसे आत्मीक सुखमें दं। देना कितनी मूर्खता है? कितनी भारी अज्ञानता है! क्या काम करनेमें ही सुख होता है? काम करना यह आकुलता है। औ

आकुलतामें सुख नहीं यह तो स्पष्ट है।

जीवका यह स्वरूप समझकर समस्त जीवोंको अपनी आत्माके समान समझना चाहिये और उनको सर्व प्रकारसे निराकुल करना चाहिये—उनके दुःखोंका नाश करनेमें पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। उनकी अज्ञानता दूरकर उनको सन्मार्गमें लगाना चाहिये, समस्त जीवोंकी विशुद्ध हृदयसे दया पालन करना चाहिये। उनको किसी प्रकारका कष्ट न हो ऐसा अपना व्यवहार रखना चाहिये। अपना व्यापार—अपने कर्तव्य, अपनी वृत्ति और अपना चाल चलन ऐसे हो कि जिससे किसीको दुःख न हो, मानसीक पीडा न हो, किसी जीवके ज्ञानादि गुणमें घात न हो इसीका नाम सदाचार है।

जीव पदार्थको जान लेनेसे ही जीवदया अच्छी तरह पालन हो सक्ती है। जीव पदार्थको जाने विना जीवदया पालना असंभव है, दूसरे जीव पदार्थको जाने विना जीवोंको क्या करना चाहिये? जीवकी सच्ची भलाई किस मार्गसे हो सक्ती है? जीवका स्वरूप कैसा है? वर्तमान समयमें कैसी अवस्था है? दुःखोंका प्रतीकार किस प्रकार होगा? सदाचार किस प्रकार धारण करना चाहिये? हिंसादि पंच पापोंसे कितनी हानि होती है? पतितावस्थाका कारण क्या? काम क्रोधादि शत्रु हैं या मित्र? पुत्र, मित्र, कलत्र इत्यादिकोंके साथ क्या संबंध है? जगतके जीवोंके प्रति क्या करना चाहिये? अपनी आत्म भलाईके लिये क्या क्या करना चाहिये, आदि कुछ भी ज्ञान नहीं हो सक्ता है और न मोहरूपी गाढ अंधकारका ही नाश हो सक्ता है। आत्मज्योतिकी

दिव्य तेजस्वी किरणें जीवका स्वरूप जाने विना नहीं प्रकाशित हो सकीं, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको जीवका स्वरूप जाननेके लिये पूर्ण प्रयत्नशील होना चाहिये, अध्यात्म जीवनको अपना ध्येय समझना चाहिये, आत्मोन्नतिको ही उन्नति माननी चाहिये। अपना लक्ष्य सदैव पवित्र और उन्नत हो इसलिये अपनी आभ्यंतर और बाह्यवृत्ति पवित्र होनी चाहिये। क्रोध लोभ मोह माया आदि विकारोंको जीतनेके लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। जीवदया पालन करनेमें तन मन और धनसे कटिबद्ध रहना चाहिये। आत्म धर्मके विकाश करनेमें सच्चा परोपकार होता है।

यहां पर यह लिखना अनुचित नहीं होगा कि आत्माकी आभ्यंतर वृत्तिकी पवित्रता बाह्य वृत्तिकी पवित्रतासे ही होती है। जबतक बाह्य व्यवहारमें पवित्रता नहीं है—बाह्य आचरण पवित्र नहीं है तो आभ्यंतर पवित्रता होना असमव है। नित प्रति होने वाले व्यवहारमें, घरके कार्यमें, खानपान आदि आचरणमें, व्यापार और प्रत्येक आरंभमें सद्विवेकका रखना, शुद्ध चाल आचरणोंका रखना, सदाचारका रखना सचमुच कल्याण करनेवाला है, ऐसा नहीं है कि ऊपरी झूठी सफेदाई हो और आचरण निंद्य हों।

यह भी स्मरण रखिये कि आभ्यंतरवृत्ति—मानसीक विचारोंपर बाह्य आचरणोंका बहुत गहरा असर होता है। जिस प्रकार भोजनका पचाव धीरे २ होता है उसी प्रकार बुरे आचरणोंका असर कमी २ धीरे होता है, परन्तु महा भयंकर होता है।

अल्प विष भी शरीरके अंदर कितना कार्य करता है। अल्प औषधी असाध्य रोगीको—मरणासन्न रोगीको कितनी आशाका संचार

है। कुलका असर भी अनेक पीढ़ी बाद पूर्ण शुद्ध होता है। इस लिये शुद्ध भोजन, विशुद्ध संगति, शुभाचरण और स्नानादि, आत्मभावनाको पवित्र बनानेवाले है। और ये सर्व बाह्य सदाचार हैं।

सदाचार पालन करनेके साधन अनेक होते हैं, हिंसादि पंच पापोंका त्याग, सप्तव्यसनोंको छोडना, परोपकार करना, सबकी भलाईमें अपनी भलाई समझना और ऐसे कार्य करना सब सदाचार है। इसलिये मूर्तीक और अमूर्तीक जीव स्वरूपको जानकर सदाचार पालन करना चाहिये।

जो मूर्तीक है वह पुद्गल है। जिसके रूप, रस, गंध और स्पर्श हो वह पुद्गल है। रूप पांच प्रकार है—काला, पीला, लाल सफेद, लीला। समस्त पुद्गल मात्रके मूल पांच रंग होते हैं। हां उनके भेद अभेद अनत है। रस भी पाच हैं। खट्टा, मीठा, तिक्त, कषायला, कटुक। ऐसा कोई भी पौद्गलिक पदार्थ नहीं है जिसमें किसी प्रकारका रस न हो। सुगंध और दुर्गंध, गंधके दो भेद हैं। स्पर्श आठ प्रकार हैं—कठोर, मृदु, रूक्ष, स्निग्ध, लघुभारी, उष्ण और शीत। पुद्गल मात्रमें ये आठ स्पर्श होते हैं। ये वीसैं गुण जिसमें हों वह मूर्तीक है। पुद्गलद्रव्य उक्त गुण होनेसे मूर्तीक है।

पुद्गलके अनंत भेद हैं। जगतमें पुद्गल परमाणु सर्वत्र खचाखच हुए हैं। स्थूल पदार्थोंकी सृष्टि इनका निमित्त कारण मिलनेसे स्वयमेव होती है। जल, पृथ्वी, पवन, वनस्पति, बिजली, शब्द, छाया, उद्योत, प्रभा, ज्योत्स्ना आदि सब पुद्गल है। पुद्गल परमाणुओंका परिवर्तन–परिणमन अत्यत आश्चर्यकारक और विलक्षण है। कच्चा आम हरा होता है परन्तु पकनेपर पीला होजाता है इस

धर्म द्रव्य–जीव और पुद्गलको गमन करनेमें सहायता करता है। अधर्म द्रव्य–जीव और पुद्गलको ठहरानेमें सहायक है। आकाश द्रव्य–समस्त पदार्थोंको स्थान देता है–अवकाश देता है–समस्त द्रव्य आकाशमें स्थित हैं। यह सब द्रव्योंसे महान् और विस्तृत है–अनंत है। इसके दो भेद हैं–लोकाकाश और अलोकाकाश। जितने आकाशमें धर्मादि द्रव्योंकी स्थिति है वह लोकाकाश है और केवल आकाश मात्र अलोकाकाश है। ये तीनो द्रव्य अखंड हैं, निष्क्रिय हैं, अमूर्तीक हैं, समस्त पदार्थोंके उदासीन सहायक हैं। इनके संयोगसे अन्य जीव पुद्गलादि क्रिया करते हैं, पर्याय धारण करते हैं, अवस्थान्तरको प्राप्त होते हैं परन्तु ये तीनों स्वयं क्रिया रहित हैं।

काल द्रव्य–द्रव्योंके परिणमनमें मुख्य उदासीन कारण काल द्रव्य है। काल विना कोई द्रव्य परिणमन या क्रिया नहीं कर सक्ता। घटना बढ़ना और अवस्थान्तरों का होना–नाश होना, उत्पन्न होना, सत्तासे अवस्थित होना, आदि द्रव्यकी समस्त अवस्थाओंमें काल मुख्य कारण है। एक द्रव्य एक देशसे देशांतर होती है तो उसमें भी समय निमित्त भूत है। एक द्रव्य परिणमन करता है तो उसमें भी समय निमित्तभूत है। यह समयकी निमित्तता ही कालकी मुख्यताको स्पष्ट सिद्ध करती है। चावलोंका भात हुआ, यहांपर यद्यपि चावलोंमें भात होनेकी शक्ति है, और उस शक्तिको विकाश करनेके लिये जैसे अग्नि–पानी आदि अनेक द्रव्योंकी आवश्यकता है–अनेक साधन चाहिये तथापि सब कुछ होनेपर भी चावलोंकी भात अवस्था होनेके लिये समय अवश्य चाहिये। अन्यथा

क्रिया नहीं हो सकेगी। बालकसे वृद्ध, नयेसे पुराना, आदि प्रत्येक अवस्थामें कालकी अपेक्षा है। इसी लिये जो द्रव्योंको वर्तन कराता है—परिणमनमें आधारभूत होता है, क्रिया करनेमें उदासीन सहकारी होता है, मर्यादा करनेमें नियामक होता है, वह काल द्रव्य है। काल द्रव्य अनंत समयात्मक है, एक प्रदेशी है। भिन्न भिन्न कालाणु रूप असंख्यात द्रव्य रूप है, अमूर्त है। लोकाकाश पृथक् २ कालाणुओंसे व्याप्त है।

काल द्रव्यके दो भेद हैं—व्यवहार और निश्चय काल। घडी-घटा, समय और प्रहर आदिके भेदसे व्यवहार काल है यह निश्चय कालका साधक है। द्रव्योंके परत्वापरत्व और परणमनमें सहायक है। निश्चय काल—वर्तना लक्षण है, द्रव्योंके परिणमनमें कारणभूत है।

इस प्रकार द्रव्योंके छह भेद है। इनका श्रद्धान करना, स्वरूप जानना, उपादेय भूतोंको ग्रहण करना, हेयभूत पदार्थोंका त्याग करना आत्म कल्याणके लिये आवश्यक है॥ १४-१९॥

जीव और अजीव पदार्थोंका यह स्वरूप जिनागममें कहा है।

आस्रव—कर्मोंके आनेके कारणोंको आस्रव कहते है। आस्रव जीव पदार्थमें अंतर्गत नहीं हो सक्ता क्योंकि वह सचेतन नही है और न अजीव पदार्थमें ही अंतर्गत है, क्योंकि अजीव पदार्थमें राग द्वेष रूप परिणमनेकी शक्ति नहीं है—बंधके कारणकी शक्ति नहीं है। इसलिये आस्रव दोनों द्रव्योंसे पृथक् द्रव्य है। यथार्थमें—यह जीव और अजीवके मिश्रित होनेसे तृतीय अवस्था है। दोनों द्रव्योंके संयोगसे एक विशेष पर्याय उत्पन्न हुई है।

इसको न तो जीव कह सके और न अजीव। यह मिथ्या-दर्शनादि रूप भावास्रव है दूसरा द्रव्यास्रव, मन, वचन और शरीरकी क्रिया द्वारा आत्म प्रदेशोंके हलन चलन रूप होता है। जो नवीन पुद्गल परमाणुओंको ग्रहण करनेकी शक्ति प्रगट होती है उसीको द्रव्यास्रव कहते हैं। आस्रव द्रव्य और भाव भेदसे दो प्रकार है। कर्मोंके आने योग्य आत्माके परिणाम राग द्वेष रूप सचिक्कण होना वह भाव आस्रव है। और मन वचन कायकी विकृति होना जिससे आत्म प्रदेशोंमें परिस्पंदता हो, क्रिया हो, पुद्गल परमाणु (कर्म) ग्रहण होते हों वह द्रव्यास्रव है।

जिस प्रकार एक नावमें छिद्र द्वारा पानी आता है, ठीक उसी प्रकार मन वचन और काय योग द्वारा कर्म आते हैं अतएव ये आस्रव हैं।

आस्रव दो प्रकार है-अशुभ और शुभ।

अशुभास्रवके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय ये कारण हैं।

मिथ्यात्व—अतत्व श्रद्धानको कहते हैं। पदार्थोंके विपरीत स्वरूप-असत्य स्वरूपको सच्चा मानकर विश्वास करना मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व दर्शन मोहनी कर्मके उदयसे होता है। दर्शन मोहनीय कर्मका सच्चे देव, शास्त्र, और गुरुमें मिथ्यादूषण लगाने आदि कारणोंसे बन्ध होता है। मिथ्यात्व समान दुखकर और कोई जगतमें पदार्थ नहीं है। संसार बंधनका मुख्य कारण मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्वके पाच भेद हैं—विपरीत, एकांत, विनय, संशय

और अज्ञान। विपरीत मिथ्यात्व—समस्त पदार्थोंमें अनंत धर्म हैं। पदार्थोंका स्वरूप बाह्यमें कुछ और ही दीखता है। जीवका स्वरूप अमूर्तिक शुद्ध ज्ञान दर्शनमयी है परन्तु संसारी जीवकी वर्तमान अवस्था इससे विपरीत होरही है। जीवकी अवस्था ऐसी क्यों हो रही है इस संबंधी ज्ञान न होनेसे शरीर—पच भूतको ही जीव मानना और ऐसा श्रद्धान करना। पुत्र मित्र भाई आदि यद्यपि प्रत्यक्ष भिन्न हैं उनको अपने मानना, शरीरके सुख दुखमें आत्म दुख सुख मानना कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुको सच्चे देव शास्त्र, गुरु समझना इत्यादि अनेक प्रकार पदार्थोंकी विपरीत अवस्थाको सत्य मानकर विश्वास करना यह सब विपरीत मिथ्यात्व है।

अनंत धर्मात्मक वस्तुओंको किसी एक धर्म रूप मानकर श्रद्धान करना—विपरीत मिथ्यात्व है। द्रव्यकी अपेक्षा वस्तु नित्य है क्योंकि कभी किसी वस्तुका नाश नहीं होता है। अपेक्षा छोड़कर वस्तुका सर्वथा नित्य ही श्रद्धान करना अथवा अनित्य ही मानकर विश्वास करना, एक धर्ममें ही विश्वास रखना, हठ रखना, एकान्तता रखना यह सब एकान्त मिथ्यात्व है।

पदार्थके सत्य स्वरूप और असत्य स्वरूप साचे झूठे सब-हीमें एकसा विश्वास रखना—विनय मिथ्यात्व है। विनय मिथ्यात्वी धर्म अधर्म, देव कुदेव, अहित और हित सबको एकसा मानता है और सबकी समान पूजा करता है।

पदार्थोंके स्वरूपमें संशय करना संशय मिथ्यात्व है। केव-लीको कवलाहारी कहना, केवलीके स्वरूपमें संशय करना, धर्मके फलादेशमें संशय करना आदि इसके कार्य हैं।

मिथ्यात्व कर्मके प्रबल उदयसे पदार्थोंके सच्चे स्वरूपमें अज्ञानता रखना, पदार्थोंके स्वरूपको ही नहीं समझना-अज्ञान मिथ्यात्व है। यह महा भयंकर है। मिथ्यात्व मात्र संसार बंधनका कारण है और पदार्थ स्वरूपमें अन्यथा श्रद्धान करना इसका कार्य है। मिथ्यात्वके समान संसारमें अहितकारी कोई नहीं है-दुःखकर नहीं. इसलिये मिथ्यात्व विषको वमन करनेका उपाय निरंतर करते रहना चाहिये।

अविरति-मन और इन्द्रियोंको वशमें न करना, और त्रस स्थावर जीवोंकी दया न करना संयमसे न रहना, सदाचार नहीं पालन करना, अयत्नाचारसे स्वच्छंद रहना आदि सब अविरतिके कार्य हैं।

प्रमाद-के भेद १५ हैं। आत्म-धर्म पालन करनेमें प्रमाद करना, संयमके धारणमें आलस करना, आभ्यंतर वृत्तियोंको पवित्र रखनेमें हतोत्साह रहना, आत्मभावनामें असावधान रहना, प्रमाद है। राजकथा, चोरकथा, स्त्री कथा और भोजन कथा, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, निद्रा और पांच इन्द्रियोंके विषय सेवन करनेमें मास्त्य भाव करना ये प्रमादके भेद हैं और इनके भेद प्रभेद बहुत हैं।

कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ चार भेदरूप हैं। परन्तु इनके उत्तर भेद सोलह हैं। नो कषाय नव हैं, सब मिलकर २५ भेद कषायके होते हैं। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ-जो कषाय आत्माके सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र गुणको घात करे, जिसके उदयसे आत्मा अपने आत्मधर्म च्युत होजाय,

अज्ञानपनेसे, अनिष्ट होगया हो, तो मंद बंधका कारण है इसी प्रकार और कारण आस्रवके फलमें विशेषता करते हैं। इसलिये सदैव दूसरोंकी बुराईसे, निंदासे, हिंसासे-अनिष्टसे डरते रहो, सदाचार और संयम धारण करनेमें प्रयत्नशील रहो, परोपकार करनेमें लवलीन रहो, आत्म चिंतनमें अनुरक्त बनो, दया पालनेमें कटिबद्ध रहो, सत्य वचन प्यारा और मीठा कहो, तभी कुछ स्वोपकार और परोपकार होसकेगा ॥११॥

बंध-कर्म और आत्म प्रदेशोंके परस्पर मिल जानेको, एकमेक हो जानेको, एक क्षेत्रावगाही हो जानेको बंध कहते हैं।

बंधके भेद चार हैं-प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश। जिस प्रकार मेघका पानी नीम, ईख, कुटकी, इमली, आदि पदार्थोंमें भिन्न २ प्रकारका रस उत्पन्न करता है। भिन्न २ प्रकृतिवाले पदार्थोंके संयोगसे भिन्न २ प्रकृतिरूप पानीका स्वभाव परिणमन हो जाया करता है, ठीक उसी प्रकार भिन्न २ कर्मरूप पुद्गल परमाणुओंका बनजाना यही प्रकृति बन्ध है। अर्थात् ज्ञानादि घात करनेका स्वभाव परमाणुओंका हो जाना यही प्रकृति बंध है। प्रकृति आठ हैं। जो परमाणु अपना स्वभाव ज्ञानावरणी कर्मरूप करले, ज्ञान गुणका आवरण करले, आत्माके ज्ञान आच्छादित करले ऐसी शक्ति परमाणुमें उत्पन्न हो जाय वह प्रकृति बन्ध है।

स्थितिबंध-कर्मकी वह प्रकृति कितने समय रहेगी। उन (प्रकृतिरूप परिणवे परमाणुओंका) कर्म परमाणुओंका आत्माके साथ कितने काल पर्यन्त संबन्ध है ? इस प्रकार उनमें कालकी मर्यादा होना स्थितिबन्ध है।

अनुभागबंध-जो कर्म आत्माके साथ संबंधित हुए हैं, आत्म प्रदेशोंके साथ एकरूप परिणवे हैं इनमें फलदान शक्तिका प्रादुर्भाव होना अनुभागबंध है। जिस प्रकार ईक्षुरूप परिणया पानी मीठापनेको देता है, अपना कार्य करता है। इमली खट्टा रस प्रदान करती है, इसी प्रकार ज्ञानावरणीरूप परिणवे पुद्गल परमाणु आत्माके ज्ञानगुणको तरतमरूपसे प्रकाशित नहीं होने देते-ज्ञान गुणको ढक लेते हैं, जिस प्रकार बादलोंसे सूर्यका प्रकाश ढक जाता है, इसी प्रकार आत्माका ज्ञान ढक जानेसे आत्मा अल्पज्ञानी होजाता है। कर्मोंके विपाकको ही अनुभाग बन्ध कहते हैं।

प्रदेशबंध-सिद्ध राशिसे अनंत गुणित और जीव राशिसे अनन्तवें भाग पुद्गल स्कंधोंको आत्म प्रदेशोंके साथ सम्बन्ध होना प्रदेशबंध कहलाता है। प्रदेश नाम परमाणुका है। कितने परमाणुका बन्ध हुआ इसीका नाम प्रदेशबन्ध है।

बन्धकी अवस्था ठीक भोजन पाकके समान है। जिस प्रकार भोजन जैसे भावोंसे चर्वण किया जायगा, जैसा भोजन चर्वण किया जायगा, जिस अवस्थापर चर्वण किया जायगा, जिस ऋतुमें चर्वण किया जायगा, वैसा ही फल प्रदान करेगा।

---

१ कर्म आठ हैं। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनी, मोहनी, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। प्रत्येक कर्मके बंध होनेके कारण भिन्न २ हैं। ज्ञानावरणी कर्मके कारण किसीको ज्ञान होनेमें विघ्न करना, पुस्तक फाड देना, ज्ञानको छिपा लेना, प्रशंसनीय ज्ञानमें दूषण लगाना, ज्ञान शालाओंको बंद करना आदि है।

जिस प्रकार भोजन पाकमें रस, मज्जा, धातु और मलादि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार कर्मोंमें भिन्न २ शक्ति होती है, कोई ज्ञानावरणी, कोई दर्शनावरणी आदि।

जिस प्रकार वातभोजन पेट फुला देता है, वायु करता है, मिष्ट भोजन कफ करता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणी ज्ञानको आच्छादित करता है, दर्शनावरणी दर्शनको नहीं होने देता।

जिस प्रकार भोजन अपना रस देकर पाक होकर मल, मूत्र और स्वेदादि द्वारा झर जाता है-निर्जरा हो जाता है उसी प्रकार कर्म भी अपना फल देकर निर्जर जाते हैं। अन्न जिस प्रकार सचेतन प्राणियोंमें अपना असर करता है-मुर्दा अन्न नहीं पचा सक्ता, कर्म भी सचेतन संसारी प्राणीपर अपना असर करते हैं। कुपथ्य अन्न जिस प्रकार अधिक विकार करता है उसी प्रकार मिथ्यात्व और असंयम भी अधिक विकार करता है। भोजनकी सावधानी न रक्खी जाय तो विशेष दुःखकर होता है, कर्मोंकी सावधानी न रक्खी जाय तो विशेष दुःखके कारण होजाते हैं। इसलिये ऐसा न समझ लेना चाहिये कि कर्म जड है। वे भिन्न २ प्रकृतिके कैसे होते हैं? उनमें भिन्न २ फल दान शक्ति कैसे होजाती है? वे किस प्रकार सबंधित होसक्ते हैं? इत्यादि शंका करनेकी आवश्यकता नहीं है, जड पदार्थोंमें भी अपार शक्ति होती है। हां चेतना शक्ति नहीं हो सक्ती। कर्म अपना फल देकर निर्जरा हो जाते हैं। जिस प्रकार भोजनका पाक हुए विना ही उसे वमन द्वारा बाहर निकाल सक्ते हैं, उसी प्रकार कर्मोंकी निर्जरा भी योग्य तप द्वारा विना फल दिये हुए हो सक्ती है। ऐसी निर्जराको

अविपाक निर्जरा कहते हैं। या कर्मोंमें प्रकृति और प्रदेशबन्ध मन वचन और शरीरकी योगात्मक क्रियासे—मन वचन और कायके योगोंसे होते हैं। अनुभाग और स्थितिबंध कषायोंसे होते हैं। क्योंकि कषायें कर्म परमाणुओंको स्थित करती हैं चिकना बनाती हैं जिससे स्नेहात्मक स्थिति प्रदान करती हैं।

बंधके मुख्य दो भेद हैं—भाव और द्रव्य और वह शुभाशुभ भेदसे हैं। आत्माके रागद्वेषयुक्त परिणामों (भावों में विकार होनेसे कर्मबंधन शक्ति उत्पन्न होती है और इस शक्तिसे कर्म वर्गणाके प्रदेशोंके साथ एकमेक होते हैं। इस शक्तिका उत्पन्न करना ही भाव बंध है। और कर्म प्रदेशोंके साथ आत्माके एकमेक होकर—दूध पानीके समान सम्बन्ध सिद्ध करना यह द्रव्यबंध है। यों तो बंधके चार भेद हैं नाना प्रदेश कर्मोंके निमित्त परिणाम होनेसे और स्थिति व अनुभागके उदय होनेसे बंधके असंख्यात और अनंत भेद हैं।[१४]

जिस प्रकार कर्मोंका संयोग निर्जरा करता है, उसी प्रकार संवर भी आत्माके कर्मबंध दूर करता है।

संवर—आते हुए कर्मोंका रोकना. नवीन कर्मोंका आना—आस्रवका निरोध संवर है।

संवर भी दो प्रकार होता है—द्रव्य संवर और भावसंवर। आत्माके जिन शुद्ध भाव परिणामोंसे कि जिनसे आते हुए कर्मोंके रोकनेकी शक्ति उत्पन्न होती हो, उनको भाव संवर कहते हैं। उस भाव द्वारा मन वचन कायकी प्रवृत्ति रोकना अर्थात् आस्रव और उनसे अनादि बंधके कारण आदिका त्याग करना

आदि कार्योंके करनेसे आत्माके परिणामोंमें (भावोंमें) वह शक्ति स्वयं उत्पन्न होजाती है। द्रव्य संवर—उपर्युक्त भाव संवरोंसे जब नवीन कर्मको अशुभ क्रिया रुक जाती है—मन और इंद्रियोंका निग्रह होजाता है, जब कर्मोंके आनेके द्वार बंद होजानेसे आत्म प्रदेशोंके साथ उन कर्मोंका बंधन नहीं होता है। इसीको द्रव्य संवर कहते हैं ॥ १८ ॥

निर्जरा—संचित कर्मोंकी तप, ध्यान और सदाचार द्वारा निर्जरा करना—कर्मोंका आत्मासे दूर होजाना निर्जरा है। एक देश कर्मोंका आत्मासे अलग होना ही निर्जरा है।

निर्जरा दो प्रकार है—भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। आत्माके भावोंमें ऐसी शक्तिका उत्पन्न होना कि जिससे संचित कर्म अपना फल दिये बिना अथवा फल देकर नष्ट होजांय वह भाव निर्जरा है। और उन कर्मोंका नाश होना—एक देशादिरूप क्षय होना द्रव्य निर्जरा है।

सविपाक और अविपाक ऐसे निर्जराके और भी भेद हैं। जो कर्म अपना फल देकर अपने कालानुसार नष्ट होजाय, वह सविपाक निर्जरा है। और जो फल देकर असमयमें कर्मोंका क्षय होजाना वह अविपाक निर्जरा है। आमको बिना पके ही उतारकर पालमें पका सके हैं। और समय आनेपर वह वृक्षपर ही पक जाता है तब स्वयं गिर पड़ता है। इसी प्रकार कर्मोंकी निर्जरा भी उभयरूप होती है। सविपाक निर्जरा गृहस्थोंके होती है और अविपाक निर्जरा मुनियोंके होती है ॥ १९ ॥

मोक्ष—समस्त कर्मोंसे अत्यंत दूर होजाना, वह ऐसी

अवस्था है कि जिसमें कर्मोंके अत्यंताभावसे आत्मा परम विशुद्ध होकर निम स्वभाव–अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनत वीर्य और अनंत सुखमें मग्न रहता है।

द्रव्य और भाव मोक्षके भेदसे मोक्ष भी दो प्रकार है। भाव मोक्ष उसे कहते हैं कि आत्माके जिन विशुद्ध भावोंमें समस्त कर्मोंके नाश करनेकी शक्ति उत्पन्न होगई हो और द्रव्य मोक्ष वह है कि आत्मासे समस्त कर्म सर्वथा छूट जाय। इस प्रकार सात तत्वोंका स्वरूप श्री जिनेन्द्र भगवानने निर्दोष और प्रमाण-भूत सत्य कहा है, उसका श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। जब-तक यह सम्यग्दर्शन धारण नहीं होता तबतक न तो सम्यग्ज्ञान ही होसक्ता है और न सदाचार ही धारण किया जाता है। आत्म कल्याणकी आदि श्रेणी सम्यग्दर्शन है। इससे सवर निर्जरा और मोक्ष होसक्ती है इसलिये सर्व प्रयत्नसे इसको धारण करे ॥२०॥

इन सात तत्वोंका श्रद्धान श्रीजिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको मान्य कर करना चाहिये। क्योंकि जीवादिक तत्व अति सूक्ष्म है–इन्द्रिय-गोचर नहीं है, इसलिये किसी प्रकारकी शका करे विना ही विशुद्ध भावोंसे इनके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करना चाहिये, क्योंकि इन तत्वोंके लक्षणमें–स्वरूपमें किसी प्रकारकी बाधा, विरोध नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे और युक्ति प्रयुक्तियोंसे एक भी तत्त्व जरासा भी बाधित नहीं होता, इसका भी कारण यह है कि जिनेन्द्र प्रभु सर्वज्ञ हैं और वीतराग है इसलिये उनके ज्ञानमें वस्तु तत्व प्रत्यक्ष हस्तामलक समान सत्य२ प्रतिभासित होता है और जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा ही उनने प्रतिपादन किया है,

इसका कारण यह यह है कि जिनेन्द्र प्रभु वीतराग हैं—उनके राग, द्वेष, माया और मोहादि विकार नहीं हैं. लोभ नहीं है, किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है, कुछ भी स्वार्थ नहीं है, क्रोधादि विकार नहीं है, प्रपंच नहीं है जिससे वे कुछ प्रयोजनवश असत्य प्रतिभाषित कर सकें। इसलिये जिनाज्ञाको सर्वमान्य और प्रमाणभूत समझ कर श्रद्धान करना ही आत्मकल्याण करना है।

कदाचित् वस्तु स्वरूपमें कुछ शंका हो तो प्रमाण, नय और युक्तियोंद्वारा निर्णय करना चाहिये। हां वस्तु स्वरूप समझनेमें निःपक्ष, निरभिमानी होना चाहिये, किसी स्वार्थवश हठ ग्रहण नहीं करना चाहिये और न कुतर्कोंसे अपनी उद्धतता प्रकट करनी चाहिये। वस्तु स्वरूप समझनेमें शान्त, जिज्ञासु—सौम्य, निष्पक्ष, निरभिमान, निराग्रह, नि.स्वार्थ, विवेचक, तर्कशील और प्रमाणसिद्ध वस्तुके माननेमें उत्साही, प्रेमाळ और वितंडाशील न होकर पदार्थ जाननेका भावुक होना चाहिये। पदार्थोंके स्वरूपका मनन करना चाहिये पुनः पुन. विचारशील होना चाहिये। जो पदार्थ समझमें नहीं आवे उसको विद्वानोंसे समझनेमें तत्पर होना चाहिये। सत्यके ग्रहण करनेमें हठी न बनना चाहिये। अपनी युक्तियोंको ही सर्वमान्य न मानकर सरल बुद्धिसे तत्व निर्णय करना चाहिये। ऐसा न हो कि बुरे विचार और कुतर्कसे द्वंद मचाओ—शांति और धैर्यसे काम लेना ही तत्व जिज्ञासा है। हां पदार्थोंके स्वरूप समझनेमें पीछे न हठो, अपनी युक्तिको समक्षकर दूसरी युक्तिको सुनो, विचार करो, पुनः स्थिर रहो तभी वस्तु स्वरूपका सम्यक् निर्णय होगा। वस्तु स्वरूप निर्णय अति विनीत भावसे

और निष्पक्षपात बुद्धि रखकर प्यारे मीठे वचनोंसे होना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित वस्तुको यथार्थ स्वरूपमें जानना सम्यग्ज्ञान है। जो ज्ञान स्वपर प्रकाशी हो, निर्दोष हो, निश्चयात्मक हो वह सम्यग्ज्ञान है।

संशय ज्ञान–जो ज्ञान परस्पर विरुद्ध उभय कोटिमें रहता हो, वह संशय है जैसे यह चांदी है कि सीप? यहांपर चांदी और सीपमें बाह्य चाकचक्यादि धर्म समान होनेसे परस्पर विरुद्ध दोनों धर्ममेंसे एक धर्मका भी निश्चय नहीं है। दोनोंमें ही संदेह है, भ्रम है, अनिश्चय है, ऐसे ज्ञानको संशय ज्ञान कहते हैं।

विपर्यय ज्ञान–जो ज्ञान विरुद्ध कोटिमें निश्चयात्मक रूपसे रहे वह विपर्यय है। जैसे चांदीमें सीपका निश्चय होना अर्थात् चांदीको सीप मानना। यहांपर चांदीसे सीप बिलकुल भिन्न पदार्थ है, परन्तु कुछ धर्म समान मिलते हैं (चकचकाट आदि धर्म समान मिलते हैं) इसलिये जिसका ज्ञानमे निश्चय हुआ है वह पदार्थ वास्तवमें नहीं होनेपर भी अन्य पदार्थमें उस पदार्थका निश्चयकर लेना, उलटा निश्चय करना, विपर्यय है। शरीरको ही जीव मानना यह भी विपरीत ज्ञान है।

अनध्यवसाय–जिस ज्ञानमें किसी भी वस्तुका निश्चय न हो वह अनध्यवसाय ज्ञान है। जैसे चलते समय पैरमें कुछ लग गया, यहांपर किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं है क्या लगा? कुछ निश्चय ज्ञान नहीं है। इस ज्ञानको संशय नहीं कह सक्ते, क्योंकि परस्पर विरुद्ध उभय धर्ममें ज्ञानकी तुलना नहीं है।

उभय गत ज्ञान नहीं है। और न परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी ऊहापोह रूप उभय भाग होती है। यह ज्ञान विपर्यय भी नहीं है क्योंकि इसमें किसी एक धर्मका भी निश्चय नहीं है। यह तो तीसरा ज्ञान है जिसमें कुछ भी निश्चय नहीं है। ऐसे मिथ्याज्ञानत्रय रहित, स्वात्म और पर प्रकाशक, निर्दोष, साकार और निश्चयात्मक ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इसके अनेक भेद है।

प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं-जो पदार्थोंको स्पष्ट जाने, उसे प्रत्यक्ष कहते है। प्रत्यक्ष दो प्रकार है-मुख्य प्रत्यक्ष और व्यवहार प्रत्यक्ष। जो आत्मा द्वारा किसीकी सहायता विना पदार्थोंको स्पष्ट जाने वह मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाण है, और जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे पदार्थोंको स्पष्टरूप जाने वह व्यवहार प्रत्यक्ष है।

परोक्ष प्रमाणके पाच भेद हैं-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। पूर्वमें अनुभव किये हुए पदार्थका स्मरण होना स्मृति है जैसे यह जिनदत्त है। पूर्वमें अनुभवित पदार्थोंका स्मरण और वर्तमान कालमें दर्शन उभयका जोडरूप जो ज्ञान वह प्रत्यभिज्ञान है जैसे-यह वही जिनदत्त है। यह प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार होता है। कारणके होनेपर कार्योंका होना और कारणोंके नहीं होनेपर (अभाव) कार्योंका भी अभाव होना, इस प्रकारका निश्चयात्मक ज्ञान-व्याप्तिज्ञान-तर्क है। जैसे-अग्निके होनेपर ही धूम होता है, और जहांपर अग्नि नहीं है वहांपर धूम भी नहीं है। साधनसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है जैसे धूमसे अग्निका ज्ञान होना। सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत शास्त्र ज्ञानको आगम कहते हैं। इस प्रकार प्रमाणका यह संक्षिप्त स्वरूप है। पदार्थोंका निर्णय उक्त प्रमाणसे ही करना चाहिये।

नय-वस्तुके अंशात्मक ज्ञानको नय कहते हैं। नय अनंत हैं। सब धर्मोंका एक साथ विवेचन नहीं कहा जासक्ता, एक समयमें एक धर्मका ही प्रतिपादन हो सक्ता है। अवशेष धर्म पदार्थमें विद्यमान रहते हैं, परंतु उस समय उनकी अपेक्षा न रखकर अविरोधसे किसी एक धर्मकी अपेक्षासे हेतुपूर्वक वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन करना नय है। नयोंसे पदार्थ सिद्धि होती है। नय विना वस्तुस्वरूप सिद्धि हो नहीं सक्ती-वस्तु स्वरूपका विचार हो नहीं सक्ता। वस्तु स्वरूप अवाच्य है। जिस समय वस्तुमें परस्पर दो विरुद्ध धर्मोंका समावेश होता है उस समय उस वस्तुके एक धर्मकी अपेक्षा न कर वक्ताकी इच्छानुसार दूसरा धर्म कहा जा सक्ता है, परंतु दोनों विरुद्ध धर्म एक साथ प्रतिपादन नहीं हो सक्ते, एक मनुष्य अपने पुत्रका पिता है और अपने बापका पुत्र है, दोनों ही विरुद्ध धर्म एक समय उसमें उपस्थित हैं। अब जिस समय उसको पिता कहते हैं तब उसमें पुत्रत्व धर्मको कहनेकी अपेक्षा नहीं रहती है। इससे यह न समझना कि वह धर्म लोप होजाता है, किन्तु उसकी विवक्षा नहीं है इसी लिये पिता पुत्र दोनों विरुद्ध धर्म एक साथ अवक्तव्य हैं।

वस्तु मात्रमें अनंत धर्म स्वभावसे होते हैं, उनकी सामान्य विशेषता ही उनको व्यक्त करती है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें सामान्य विशेषात्मक अनंत धर्म न हो। यदि जीव द्रव्यको ही देखा जाय तो जीव द्रव्यमें भी सामान्य विशेष धर्म मौजूद हैं, हां वक्ताकी अपेक्षासे सामान्य धर्म भी विशेष रूप होजाता है और विशेष सामान्यरूप होजाता है। यदि चेतनत्व धर्मकी दृष्टिसे पदा-

र्थका स्वरूप देखा जाय तो संसारी और सिद्ध जीव इस धर्मके अंतर्गत होसक्ते हैं और मनुष्य जीव कहनेसे अवशेष धर्मकी अपेक्षा नहीं की जा सक्ती है। सामान्यापेक्षा जीव द्रव्यमें अस्तित्व, वस्तुत्व, चेतनत्व, अमूर्तत्व, प्रमेयत्व नित्यत्व, प्रदेशत्व आदि अनेक धर्म हैं। तथा संसारी जीवापेक्षा भी मूर्तत्व, अनित्यत्व, नरनारकादि पर्यायत्व आदि अनंत अवस्थायें तथा गुणोंकी अपेक्षा अनंत धर्म है—द्रव्यका मुख्य लक्षण गुण समुदाय है। उन गुणोंको शक्ति, धर्म, स्वभाव आदि नामसे कह सक्ते है। गुण भिन्न २ स्वभाववाले होते हैं और एक एक द्रव्यमें अनत गुण रहते हैं। एक साथ उन धर्मोंका—गुणोंका प्रतिपादन होना अशक्य है इसी लिये किसी एक धर्मको विशेषकर और अवशेष धर्मकी अपेक्षा न कर वस्तुका स्वरूप वर्णन करना नय कहलाता है। शब्द भेदसे वाच्य भेद होता है क्योंकि जितने शब्द होते हैं उतने ही उनके अर्थ होते हैं। इसलिये शब्द भेदमें भी नय भेद हो जाता है। जिस प्रकार इन्द्र, मघवा, सहस्राक्ष, आखंडल, सुरपति आदि सब शब्द इन्द्रके वाचक हैं, और वे भिन्न २ गुणोंके कारण हुए हैं परन्तु पदार्थ एक ही है। जो ऐश्वर्यवान है वह इन्द्र है, जिसके हजार नेत्र हैं वह इन्द्र है, जो ज्ञानवान है वह इन्द्र है, जो देवताओंका पति है वह इन्द्र है। यहांपर वस्तुके पृथक् पृथक् गुणोंके कारण उसके पर्यायवाची शब्दोंसे इन्द्र कहा गया है। परन्तु ऐसा नहीं है कि इन्द्र कहते समय अवशेष धर्म इद्रमें न हों, परन्तु उनकी अपेक्षा नहीं होती है इसलिये जिस एक धर्मसे वस्तु कही जाती है वह नय है।

नयके मुख्य दो भेद हैं–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इसका कारण यह है कि वस्तुका पूर्ण स्वरूप द्रव्य और उसकी पर्यायके मिलनेपर होता है। ऐसा नहीं है कि वस्तुकी एक पर्याय मात्र कहनेसे उसका पूर्ण स्वरूप होगया। मनुष्य जीव कहनेसे जीवका पूरा लक्षण नहीं होजाता, किन्तु एक पर्यायका विशेष वर्णन होता है। जीवका पूरा लक्षण उसकी सर्व अवस्थाऐं और उसके सर्व गुणोंको कहनेसे होती है। इसलिये पूर्ण रूपसे वस्तुका ज्ञान प्रमाणका कार्य है किन्तु द्रव्य और पर्यायके पृथक् २ अशोंका जानना नयका कार्य है इसी लिये द्रव्य और पर्याय पृथक् २ विषय होनेसे नयके भी दो भेद हैं।

द्रव्यार्थिक नय–द्रव्य वस्तुको तथा वस्तुके एक सामान्य धर्मको कहते हैं। द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुके उस सामान्य धर्मका प्रतिबोध होता है जो वस्तुके समस्त अशोंमें अविशेषसे व्याप्त रहता हो अर्थात् वस्तुका सामान्य धर्म द्रव्यार्थिक नयका विषय है। जैसे आत्माको नित्य कहना। इसके तीन भेद हैं शुद्धार्थ संग्राही, अशुद्धार्थ सग्राही और उभयात्मक। जिस वस्तुके सामान्य धर्ममें अन्य वस्तु धर्मकी मिलावट न हो वस्तुका शुद्ध धर्म हो वह शुद्धार्थ सग्राही द्रव्यार्थिक नय है। जैसे–जीवका अमूर्तत्व। जिस सामान्य धर्ममें अन्य वस्तु धर्मका सयोग हो वह अशुद्धार्थ सग्राही द्रव्यार्थिक नय है जैसे ससारी जीवका मूर्तत्व। और जो उभय मिश्रित हो उसे उभयात्मक द्रव्यार्थिक नय कहते हैं जैसे ससारी जीवके रागादि भाव।

पर्यायार्थिक नय–वस्तुके पृथक्२ विशेष धर्मोंको प्रति-

पादन करता है। द्रव्योंमें काल-शब्दादि कारणोंसे विशेषता होती है उस विशेषताका होना ही पर्यायार्थिक नय है। इसके बहुत भेद हैं।

अथवा नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात भेद नयोंके हैं।

नैगम नय-वस्तुमें पर्याय प्राप्त होते ही योग्यता मात्रको देखकर (चाहे वह पर्याय वर्तमानमें निष्पन्न न हो तो भी) उसको पर्याय युक्त मानना नैगम नयका विषय है, जैसे एक मनुष्य भात पकानेके साधनोंको एकत्रित कर रहा था तो भी उसको पूछा कि क्या कर रहे हो? भात पकाता हूं। यहांपर भात पर्याय सिद्ध नहीं होनेपर भी योग्यता मात्रमें उसका व्यवहार किया है एवं भावी पर्यायको, वर्तमानमें कहना नैगम नय है।

संग्रह नय-स्वजातिके धर्मोंका परस्पर विरोध ग्रहण न कर और वस्तुके उत्तर भेदोंको एकत्व भावनावश एक रूप कहना संग्रह नय है जैसे द्रव्यत्व, सत्, जीवत्व, आदि धर्म उत्तर समस्त भेद प्रभेदोंमें अविरोधसे व्याप्त होकर भी समस्त वस्तुको ग्रहण करते हैं।

व्यवहार नय-संग्रह नयसे संग्रहीत किये हुए पदार्थोंमें अविरोधसे विधि पूर्वक विभाग करना व्यवहार नय है जैसे जीव, संसारी और मोक्ष। संसारी जीव-त्रस, स्थावर।

ऋजुसूत्र-पदार्थकी ठीक वर्तमान समयकी पर्याय मात्रका ग्राही ऋजुसूत्र है। वर्तमान समयसे कालका एक सूक्ष्म समय ग्रहण करना चाहिये। यद्यपि ऐसे अल्प समयमें पदार्थोंकी

पर्यायका परिणमन दृष्टिगोचर नहीं होता है, तो भी पदार्थ प्रति समय परिणमन करता है और एक समय पदार्थकी जो पर्याय है वही विषय ऋजुसूत्र नयका विषय है। यह न समझना कि क्षण क्षण पर्याय नहीं परिणती है। ओदन पर्यायादि क्षणः प्रतिक्षण विकृत होती है।

शब्द नय-पदार्थोंका बोध शब्दोंसे होता है। पदार्थोंकी लिंग, संख्या, साधनादि भिन्न २ हैं। कोई पदार्थ पुलिंग है तो कोई स्त्री लिंग, कोई पदार्थ एक है तो कई अनेक हैं, इसलिये पदार्थोंकी लिंग, सख्या, गति, काल, साधन पृथक् २ हैं। पदार्थोंकी ऐसी व्यवस्था होनेसे पदार्थवाची शब्दोंमें भी वही क्रम उपयोग होता है अतएव शब्दोंमें भी लिंग सख्या साधनादि विषय होते है। शब्दोंकी पद्धति तीन प्रकार होती है। सामान्यार्थग्राही रूढिसे अर्थग्राही और क्रियार्थग्राही। शब्दार्थोंमेंसे लिंग, सख्या, साधनादि दोषोंको दूरकर शब्दज्ञान करना शब्द नयका विषय है जैसे स्त्री अर्थके द्योतक दारा, कलित्र और स्त्री। इन तीनों शब्दोंके पुलिंग नपुंसक लिंग और पुलिंगादि पृथक् ९ लिंग होनेपर स्त्री पर्यायके द्योतक होते हैं। इससे यह न समझना चाहिये कि जो शब्दका लिंग है वही अर्थका हो, या अर्थका लिंग-शब्दका लिंग हो, किन्तु शब्द प्रक्रियासे शुद्ध शब्दोंका अर्थ, कर्ता, लिंग, वचन, उपग्रह साधनादि विषय शब्द नयसे होता है। वाक्यरचना व्यवहाराधीन भी होती है वह इसके नहीं है।

समभिरूढ नय-यह नय भी शब्दविषयक है। कितने ही शब्द अनेकार्थवाची होते हैं। किन्तु शब्द मात्रोंका रूढिवाला

प्रसिद्ध अर्थ प्रायः एक ही होता है, क्योंकि एक पदार्थकी रूढि व्यवहारमें एक ही होसक्ती है अन्यथा उसको रूढि न कहकर अनेकार्थ विधायी कहेंगे। जैसे गोशब्दके पृथ्वी, सूर्य, गाय अनेक अर्थ हैं, तो भी गोशब्दकी रूढि गाय ही है और यह रूढि प्रसिद्ध है। अनेकार्थोंकी विवक्षाको तजकर एक रूढि अर्थमें नियामक होना समभिरूढि नयका विषय है। यह भी अनेक प्रकार होता है। एक पदार्थके भिन्न२ शब्द उस पदार्थद्योतक हों यह भी इस नयका विषय है।

एवंभूत नय–कितने शब्द धातुओंसे (प्रकृति-प्रत्यय) बनते है। धातुका जो शुद्धार्थ हो तदनुसार उस पदार्थकी क्रिया होती है हो तो ही उस शब्दार्थका प्रयोग करना एवंभूत नयका विषय जैसे। गोशब्द गम्लृ-गतौ धातुसे गच्छतीति गौ.–गमन करे, वह गाय ऐसा अर्थ बोध होता है परन्तु रूढिसे गोशब्द पशुविशेषका द्योतक है। एवं भूत नयका विषय यह होगा कि जिस समय गाय गमन करती होगी उसी समय वह उसको गाय कहेगा, बैठी सोतीको नही, अथवा शब्दार्थके द्योतक क्रियासे उसको वैसा कहना, अथवा ऐसा ज्ञानविषयक आत्माको उस रूप कहना एवंभूत नय है।

इन नयोंका विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म है, परन्तु ये नय परस्पर सापेक्षता रखते हैं, व्यस्तनय एकांतरूप होनेसे मिथ्या हैं।

पदार्थोंके जाननेके लिये, जिस प्रकार प्रमाण नयकी अपेक्षा है उसी प्रकार गुण और पर्याय जाननेकी भी आवश्यकता है।

पदार्थोंके गुण दो प्रकार है–स्वभाव और विभाव। द्रव्यकी

शुद्ध द्रव्योंमें जो गुण हैं वे स्वभाव गुण हैं, और पुद्गलके [illegible]-वके गुण वैभाविक हैं।

पर्याय स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकार है। स्वभाव पर्याय द्रव्योंमें रहनेवाली अगुरुलघु शक्ति है जिसके होनेसे द्रव्य परिणमनशील होते हैं। विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय, विभाव गुण व्यंजन पर्याय, स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय, स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय [illegible] पर्यायके अनेक भेद हैं। जीव और पुद्गल द्रव्योंमें ही व्यंजन पर्याय होती है।

अर्थ पर्याय धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्यके होते हैं।

[illegible] द्रव्य, [illegible] [illegible] है। और व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्यायसे द्रव्य [illegible] कह-लाता है। द्रव्यका लक्षण सत् है। द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणको सत् कहते हैं। [illegible] है, [illegible] है परन्तु [illegible] कहते हैं और उसका [illegible] द्रव्यमें स्वभाव, विभाव, अर्थ, व्यंजन पर्याय परिणमनकी शक्ति है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] है। यह [illegible] ही [illegible] है। [illegible] [illegible] नहीं होती और [illegible] [illegible] कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती न [illegible] शुद्धि होती

१ [illegible] द्रव्य और [illegible] होता है।

है जिससे अपना हित और अहित समझा जाय। अपना हित जाने बिना आत्म कल्याण नहीं होसक्ता, इसलिये आत्महितार्थ सम्यग्दर्शनको बीज समझना चाहिये। सदाचार सम्यग्दर्शन होनेपर ही होसक्ता अन्यथा वह असदाचार ही है ॥ ११ ॥

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिये २५ दोषोंको छोड देना चाहिये। मोतीकी विशुद्धि उसके दोष दूर करनेसे होती है। सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि दोषोंके त्याग करनेसे होती हैं। आठ मद, तीन मूढता, छह अनायतन, आठ शंकादिक दोष ये पचीस सम्यग्दर्शनके दोष हैं। जिस प्रकार वात पित्त कफमें दोष होनेसे व्याधि शांत नहीं होती उसी प्रकार उक्त दोषोंके होनेसे तत्व श्रद्धानमें पूर्ण रुचि नहीं होती है, दोषोंके कारण मलिनता रहती है। और जबतक आत्म परिणामोंमें मलिनता है तबतक आभ्यंतर विशुद्धि नहीं होती, मलिन पदार्थ पर रंग नहीं चढता। मलिन परिणामोंमें सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं रह सक्ता, इसलिये दोषोंको छोड़ देनेमें ही सदाचारकी वृद्धि है ॥१२॥

कुल, जाति, तप, धन, ज्ञान, वीर्य, ऐश्वर्य और शरीर इनका अभिमान करना आठ मद कहलाते हैं।

कुलमद—पिताके वंशको कुल कहते हैं। वर्ण चार हैं। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शुद्र। कुलका—अपने वंशका अभिमान करना अनर्थका कारण है क्योंकि अभिमान विना रागद्वेपके उत्पन्न नहीं होसक्ता, रागद्वेषादि विकारोंका होना असदाचार है—संसार पद्धति है पतितावस्था है। इस जीवने अनादिकालसे चतुर्गति संसारमें भ्रमणकर अति क्षुद्रसे क्षुद्र और नीचसे नीच अवस्था

बहुतवार पाई है, जिसमें रहकर सदाचारका लक्ष तक नहीं रहा। अब मुझे यह उत्तम कुल मिला है इसका मुझे सदुपयोग करना चाहिये। व्रत पालना, सदाचार धारण करना, और सत्कार्य आदि करना चाहिये न कि मास मदिरा आदि अभक्ष भक्षण करना, जीव हिंसा करना, हिंसामयी व्यापार करना, अभक्ष भक्षणके कारण सदैव क्रूर परिणाम रखना, स्वार्थमें लिप्त रहना, आभ्यंतर वृत्तिमें मलिनता रखना आदि बुरे विचार न होने देना ही उत्तम कुल पानेकी सार्थकता है। आत्मा अमूर्तीक है, पवित्र है। उत्तम कुलको पाकर मुझे पवित्र बनना चाहिये। ये मेरे जीव मात्र सर्व बंधु हैं, सबकी आत्मा समान हैं इसलिये अभिमान नकर उत्तम निमित्तोंसे आत्मकल्याण करें। यद्यपि आत्मा अमूर्त है, कुलादि ससार व्यवहार है इसलिये उच्च कुलका अभिमान न करना चाहिये। तथापि ऐसा न समझना कि कुलादि संसार व्यवहार बिलकुल ही झूठा है व्यर्थका प्रपच है, वर्ण व्यवस्था और उच्च कुलादि प्रथा ढोंग है क्योंकि उन्नति, सद्विचार और सदाचारका मुख्य कारण व्यवहार है। व्यवहारका असर सद्विचारोंपर गहरा पड़ता है। निंद्य व्यवहार—कुत्सित प्रवृत्ति आदिका सहयोग आत्म विचारोंपर गहरा असर करता है। और व्यवहार प्रवृत्ति वर्णाधीन होती है। जैसा कुल (वर्ण) होगा वैसी ही व्यवहार प्रवृत्ति होगी। ऐसा न समझना कि बाह्य प्रवृत्तियोंका आत्म विचारोंपर असर न होता हो। निंद्य वचन, विष मात्रा, बुरी संगति, कुत्सित भोजन, और कुलकी प्रवृत्तिकी असर छूतके रोग समान आभ्यंतर प्रवृत्तिके दूषित करनेके लिये तत्काल

उपयोगी होते हैं। जिस प्रकार रक्त विकार, वीर्य दोष, कोढ़ादि विषय व्याधि प्रति संतान चली जाती है उसी प्रकार कुलागत (वर्ण व्यवस्था) धर्म भी वंश परम्परातक चला जाता है उसका असर जाता ही नहीं। एक मनुष्यने मास मदिरापान छोड दिया और वह नीच वर्णका मनुष्य है तो ऐसा न समझना कि उसकी वह प्रवृत्ति नष्ट होगई और सदाचारका पात्र होगया। हां थोड़े अंशोंमें वह शुद्ध है, किन्तु चिरकालकी गध उसके विचारोंकी परीक्षा समय ढीलाकर देती है इसी लिये उत्तम कुल यद्यपि सदाचारका मुख्य कारण है, सद्विचारकी भूमि है तो भी उसका अभिमान न करना और सदाचार पालन कर उसकी शोभाको बढाना है।

जातिका भी अहंकार न करना चाहिये। माताकी पक्षको जाति कहते हैं। जितने उत्तम वर्णकी माता होगी उतने ही गृहस्थोंके सदाचार उत्तम और निरवद्य होंगे। माताका असर गर्भस्थ बालकपर गर्भ धारण समयपर ही होजाता है। इसी लिये वर्ण व्यवस्था नियमोंमें माताके उत्तम विचार और श्रेष्ट आचरण सतानमें प्राप्त होनेके लिये ऋतु समय त्रिवर्णाचार आदि ग्रन्थोंमें कितना बतलाया है कि बालककी आत्माके साथ सम्बंधित माताके कर्तव्य माताके श्वासोश्वासके साथ प्रतिक्षण जाते हैं। दूसरे उत्तम जातिकी माताकी बाह्य प्रवृत्ति, खानपान, गृह सस्कार, सदाचारसे परिपूर्ण होनेसे बालक भी वैसे ही सस्कार पूर्ण होता है। नैपोलियन बोनापार्टकी माताके विचार वीरतापूर्ण थे, बालक भी वैसा ही हुआ। चितोडकी रानियोंकी माताके विचार सुशील थे उनकी संतान भी सुशील (पतिव्रता) निकलीं, मर गईं परंतु शीलभंग

नहीं किया। जिस माताके कुलमें नियोग धर्म होता होगा, असदाचार होता होगा, खान पानकी शुद्धि होती न होगी उसकी सतान भी प्रायः असदाचारी ही निकलती है। इसलिये उत्तम जातिका पाना शुभोदयसे है परंतु उसको पाकर अभिमान न करो, कदाचारोंसे बिगाड मत दो, उसकी महिमा सदाचार, श्रेष्ठ प्रवृत्ति, और उत्तम कार्यसे करो, सदाचारका मिलना महान दुर्लभ है। राज्यसंपत्ति, धन, आदि पदार्थ मिल भी सके हैं परंतु सदाचार और सत्कार्य प्रयत्न करनेपर भी अति कठिनतासे प्राप्त होते हैं। उत्तम जाति अनेक बार मिली, परंतु उसका उपयोग एक बार भी नहीं किया, उत्तम पदार्थको पाकर व्यर्थ खोदेना अथवा उसके अभिमानमें कर्तव्य शून्य होजाना श्रेष्ठ नहीं, परन्तु यह तो निश्चित सिद्धान्त है कि जैसा सहयोग, जैसे आचारवालोंकी संगति और जैसे सदाचारी कुलमें जन्म होगा उसका असर मरणपर्यंत रहेगा ही। हां कुछ समयके लिये वह विकार न करे। कुछ रोग ऐसे हैं कि कुछ समयके लिये शांत होजाते हैं, पुनः प्रादुर्भाव होजाते है और पुन: शांत होते हैं परन्तु उनका असर मरणपर्यंत जाता नहीं। ऐसे ही वर्ण, कुल जाति आदिका असर उसको, उसकी संतानको मरणपर्यंत जाता ही नहीं। ज्ञान प्राप्तिमे भले ही एक नीच मनुष्य मदिरा आदि खानपानको बुरा कहे परन्तु रोग आदि आपत्ति और दूसरे अनिवार्य कारण आजाने पर परीक्षाके समय उसका ज्ञान व विचार नष्ट होजाता है। उत्तम जातिमें वर्तमान कुल संबधी श्रेष्ट आचार विचारोंका, शुभ प्रवृत्तियों तथा खानपानका असर होता है और परजन्मकृत संस्कारका असर होता है

इसलिये वर्णव्यवस्थाके अनुकूल उत्तम जातिमें जन्म लेना सदाचारकी विशुद्धिके लिये सबसे प्रथम आवश्यक है।

बहुतसे लोग ऐसा विचार करते हैं कि भोजनकी शुद्धिसे सदाचारका कोई सम्बन्ध नहीं ? और मनुष्यमात्र एकसे हैं उनके साथ भोजन करनेमें क्या हानि ? परन्तु वे शारीरिक तत्वको नहीं जानते और न सदाचारके अभिप्रायको ही समझे हुए हैं। एक अल्पविष शरीरमें कितना असर करता है। छूत रोगीके साथ खानेसे क्यों व्याधि लग जाती है ? बुरी हवाका संयोग भी हानिप्रद होता है। उच्छिष्ट और नीच मनुष्योंके साथ पंक्ति भोजन करनेसे प्रेमवृद्धि नहीं होती, प्रेम सदाचारका फल है। यदि सच्चा सदाचार आत्मामें है तो प्राणीमात्र पर अखूट प्रेम अवश्य रहेगा। उच्छिष्ट खानेवाले और एक धर्म, एक जातिवाले जर्मन और इंग्लैण्डमें युद्ध क्यों हुआ ? अनंत प्राणियोंकी हिंसा, द्वेष और भयानक अत्याचार क्यों हुए ? उनमें प्रेम क्यों नहीं जागृत हुआ ? प्रेम सदाचारका फल है। यदि सदाचार होगा तो प्रेम अविश्य होगा। रोगीका उच्छिष्ट भोजन शीघ्र ही हानि करता है। जिनके संस्कार इस जन्म तथा परलोककृत ठीक नहीं अवश्य उनके साथ भोजनादिसे, श्वासोश्वाससे और सहवाससे असदाचार प्रवृत्ति होगी। उत्तम जाति पाकर सदाचार उत्तमतासे धारण करो और व्यर्थका अभिमान न कर समस्त जीवोंको सदाचारमें लगाओ इसीसे सम्यग्दर्शन विशुद्ध होगा।

इसी प्रकार ज्ञानका अभिमान न करना चाहिये। ज्ञानको पाकर उसका दुरुपयोग न करो। ज्ञानका दुरुपयोग-सच्चे ज्ञानमें

दूषण लगाना, प्रसंशनीय और आदर्श ज्ञानियोंकी अश्लील शब्दोंमें (आत्मप्रशंसा और कुछ स्वार्थके लिये) निंदा करना, पक्षपातसे कुत्सित आग्रह धारण करना, विषय कषाय और असदाचारप्रवर्तक लेख लिखना असद्विचारमें लीन रहना, कुतर्कसे सद्विचार करनेमें कायर होना आदि ज्ञान पानेका दुरुपयोग है—अभिमान है। ज्ञानका मिलना महान् दुर्लभ है। जीवनावस्थाका सार ज्ञानके साथ सदाचार धारण करना है। हित अहित, भलाई बुराई, सन्मार्ग कुमार्ग आदि ज्ञानसे ही जाने जाते हैं। इसलिये ज्ञानका सदुपयोग करना ही ज्ञानकी निरभिमानता है।४

ज्ञानका सदुपयोग—सद्विचारसे तत्वोंका ज्ञान प्राप्त करना, सच्चे ज्ञानके कारणोंकी वृद्धि करना, वाचनालय खोलना, पाठशाला खोलना, शास्त्रोंका जीर्णोद्धार कराना, शास्त्रकी महिमा प्रसिद्ध करनी, सच्चे ज्ञानका विस्तार करना, पदार्थोंके जाननेमें प्रेम करना, ज्ञानी विद्वानोंका विशुद्ध अन्त:करणसे सन्मान करना, जीवोंकी अज्ञानता दूर करना, सच्चे ज्ञानमें मिथ्यापवादको दूर करना, धर्मोपदेश देना, जीवोंकी भलाईका मार्ग निस्वार्थ वृत्ति और निष्कपटसे बतलाना, सन्मार्गमें लगाना, कुतत्वज्ञान, विषयवासना पोषकज्ञान, असदाचारी ज्ञान और विकार ज्ञानसे जीवोंको निकालकर विशुद्ध प्रेम सच्चे ज्ञानकी महिमा तन, मन, धन और बुद्धिसे प्रत्यक्ष कर बतलाना ही ज्ञानका उपभोग है। सच्चे शास्त्रोंका पठनपाठन तत्व विवेचन, और ज्ञान प्रभावना इसके कार्य हैं। इसलिये ऐसा करना चाहिये कि जिससे अपना और अनंत जीवोंका कल्याण हो और ईर्षा-द्वेष और अज्ञान नष्ट हो जाय, सब जीव

मात्रको आत्मबंधु समझकर उनको ज्ञानी बनानेमें ही ज्ञानका उपयोग किया जाय तो ज्ञान पाकर भी निरभिमानता होती है।

ऐश्वर्य मद-धन-संपत्ति पुण्योदयसे प्राप्त होती है और उसका मिलना दुर्लभ है। संपत्ति मिल जाय तो उसका अभिमानकर अन्य जीवोंको क्लेशित करना, असदाचारी होना, स्वच्छंदतासे भले बुरे काम करना, निंद्य आचरण धारण करना, शराब आदि अभक्ष पदार्थोंका सेवन करना, मनमाने पापाचरण करना, वृद्धावस्थामें पुनर्लग्न करना, विषय कषायोंमें धनका दुरुपयोग करना, पात्रमें दान नहीं करना, सत्कार्यमें व्यय नहीं करना इत्यादि सब धनका अभिमान है। आत्मा नित्य है, अपने आत्म स्वभावसे अनंत सुख सहित है, परम आनंद और परम शांतिमय है जब कि धनसंपत्ति पर पदार्थ हैं। पुण्य कर्मके सयोगसे इनका संबध होता है और वह संबध जब तक पुण्योदय है तब तक रहता है-मरणके बाद साथ नहीं जाता, उससे सुख तलवारकी धारके समान होता है। पर पदार्थमें मोह करना संसार बधन और दु:खका कारण है। कदाचित मोहनीय कर्मके उदयसे बाह्य संपत्तिसे प्रेम न छूटे तो उसको पाकर अत्याचार न करो, असह्य पापाचरण शिर पर न लादो, हिंसादि कुत्सित कर्म कर असदाचार न फैलाओ, अपने स्वार्थके लिये दूसरोंको हानि न करो, धनसे परोपकार-सत्कर्म करो, धर्म रक्षा, जीव दया और पुण्य कर्म करो, दु:खी मनुष्योंकी रक्षा, अन्ध अपंगुओंकी सहायता, करो, मार्ग प्रभावना करो, धर्मकी महिमा जिस प्रकार संसारमें होसके उसके लिये भरपूर प्रयत्न करो, रथोत्सव, मेला, पात्रदान,

जिन पूजन आदि महान पुण्यदायक कार्यमें धनका उपयोग करो, औषधालय, पाठशाला, आदि कार्य करो, सबसे विनय-भावसे रहो, छोटे बडे, नीच ऊंच, गरीब और दुखी पर यथा योग्य प्रेम करो, धर्मकी स्थिरताके लिये, धर्म रक्षाके लिये और धर्मके विस्तारके लिये धनका उपयोग करो तो ही धन पाकर निरभिमानी हो ऐसा समझा जायगा।

इसी प्रकार तप, ऋद्धि, और आज्ञादिका अभिमान न करो। अभिमान असदाचारसे होता है। सदाचार धारण करनेसे आत्म धर्म प्रगट होता है जिससे वह जीवमात्रकी भलाईमें अपनी भलाई समझता है। आत्मश्लाघासे वह दिखनोट्ठ कार्य नहीं करना चाहता, वह अपने सत्कार्यको आत्म गौरव प्रगट करनेके लिये और जिसके ऊपर परोपकार किया है उसको तुच्छ और अहसानी समझनेके लिये नहीं करता, वह अपने सदाचारको आत्म धर्म विकाश, आत्म गुणोंकी वृद्धिके लिये और आत्म कर्तव्यके लिये निरपेक्ष और निःस्वार्थ होकर अति विनीत भावसे अति प्रेमपूर्वक करता है और इसी लिये वह अपना मार्ग स्वच्छंदता और उच्छृं-खलताकी वागडोरमें फसाना नहीं चाहता-असदाचारी नहीं बनना चाहता। आत्मोन्नति आत्म गुणोंके विकाश करनेमें है। सदाचार आत्म-धर्म धारण करनेमें है। विषय कषायमें लवलीन रहना और परिग्रहकी अमर्यादा (लोभ) एवं असदाचारमें न तो आत्मो-न्नति है और न राष्ट्रोन्नति है। जो लोग इस उद्देशसे असदा-चारी होकर परिग्रहकी मृग तृष्णामें वहककर धर्म अधर्मको भूलकर अपने स्वार्थको ही सच्चा बंधु मानकर अत्याचार व अन्याय करनेसे

डरते नहीं, वे ऊपरी भभकाको ही उज्वलता-पवित्रता समझते हैं-अपने स्वार्थको ही सदाचार मानते हैं और उसीके अनुसार अपने विचारोंको मनोहर प्रकट करते हैं। जबतक आत्म वृत्ति सरळ, निरभिमान और पवित्र न होगी तबतक सदाचारकी मात्रा और आत्मगुणोंका विकाश नहीं हो सक्ता।

जितने सत्कार्य सरलता (निरभिमानता) से होते है उतने और किसीसे नहीं। धार्मिक कार्योंमें भी ईर्षा, द्वष न करना चाहिये और न फूटके बीज बोना चाहिये। अभिमानसे किसीकी निंदा नहीं होती। किन्तु अपना लक्ष च्युत होजाता है व आत्म-धर्म नष्ट होजाता है। किसीका भला बुरा होना, नाश होना, उदय होना आदि वस्तुस्थिति पर निभर है, किसीके करनेसे कुछ नहीं होता, इसलिये सबसे प्रथम आत्मोन्नति है। जो मनुष्य अपनी आत्मोन्नतिके लक्षको छोडकर आभासका अनुकरण करते हैं वे अपने आपको ठगते हैं, अतएव सम्यग्दर्शन धारण करनेके लिये निरभिमान होना परमावश्यक है। मान द्वेषका कारण है। द्वेषसे कार्य नष्ट ही नहीं होते किन्तु आत्मधर्म पर विशेष मैल चढता है, आत्मधर्म मलिन होनेसे सद्विचार और सदाचार भी मलिन हो जाता है, आभ्यंतर वृत्तिमें विकार होता है इससे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि नहीं होसक्ती। इसलिये सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिये निरभिमान होना आवश्यकीय धर्म है। और सरलता धर्म वृद्धिका कारण है ॥ २२ ॥

आत्म परिणाम-एक कारणसे मलिन नहीं होते किन्तु अनेक कारणकलापोंसे मलिन होते हैं। सम्यग्दर्शनकी

विशुद्धिके लिये जिस प्रकार निरभिमान होना श्रेयस्कर है उसी प्रकार तीन मूढताका त्याग करना भी आवश्यक है।

संसारी जीव भोले होते हैं, उनको अनुकरण करना सबसे अच्छा लगता है। बालक माता पिताका अनुकरण करता है। अनुसरण एक प्रकारकी कमजोरी है अथवा अज्ञानता है, बालक अज्ञानताके लिये ही अनुकरण करता है।

स्वार्थके लिये सच्चे धर्मका अनुकरण भी कभी२ अन्यथा होजाता है। स्वार्थसे अज्ञानता आधमकती है। अज्ञानतासे हिताहित भुला जाता है। मूढता-अज्ञानतासे धर्मका अनुकरण अन्यथारूप हुआ है।

स्वार्थी मनुष्योंने भोले जीवोंको धर्माचरणमें मिथ्या लोभ बताये। लोभ बुरी बलाय होती है, लोभी मनुष्य परीक्षा करना भूल जाता है, ज्ञान खो बैठता है। मूढताकी सृष्टि लोभ और अज्ञानतासे हुई है। बिचारे भोले प्राणी अज्ञान और लोभसे धर्मके सच्चे स्वरूपको भूलकर अधर्मको धर्म मानने लगे-अधर्ममें ही आत्महित समझने लगे। इसलिए अधर्मको धर्मबुद्धिसे सेवन करने लगे। ऐसे आचरणोंका नाम मूढता है। ऐसे आचरण असख्य हैं, मूढता भी असंख्य हैं परन्तु उन सबका तीन मूढतामें समावेश है।

लोकमूढता-धर्म समझकर, आत्महित समझकर, पर्वतसे गिर आत्मघात करना, अग्निमें पडकर आत्मघात करना, आरी कुदाला आदिसे घात करना, बालु पत्थरके ढेर लगाकर पूजना, और समुदादिकोंमे स्नान करना आदि लोकमूढता है।

बाह्यशुद्धि ग्लानिको दूर करनेवाली है। मलमूत्रका स्पर्श,

हिंसादि महापातक कर्म करनेवाले मनुष्यका स्पर्श, रुधिर, वमन और हाड मांसका स्पर्श ग्लानिका कारण है। ऐसा भी होता है कि ऐसी वस्तुओंके सहयोगसे रोग, बुद्धि नाश, ग्लानि, कंप और भय उत्पन्न होता है, बाह्य संस्कारसे अशुचिताका असर होता है। और वह आभ्यंतर वृत्तिमें मलिनता करता है इसलिये बाह्य शुद्धि आभ्यंतर शुद्धिकी बीजभूत है, पवित्रताका कारण है परन्तु इससे ऐसा न मानना चाहिये कि बाह्यशुद्धि आत्म धर्म है।

गगा, समुद्र और गोदावरी आदि नदियोंमें स्नान करना समस्त पापोंसे छूट जाना है, सच्चा धर्म है, मोक्षमार्ग है यह बात नहीं हैं क्योंकि इनमें स्नान करनेसे शरीर पवित्र होता है या आत्मा? शरीर तो किसी प्रकार भी शुद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि वह मलमूत्र, रुधिर, पाश, हाड, शुक्र, कफ, लार, श्लेमा, स्वेद और चामका पिंड है। इसमें एक भी ऐसी चीज नहीं है जो स्नान करनेसे बदल जाय—पवित्र होजाय और पुनः अपवित्र न हो। कोयलेको जितना ही धोया जाय और धोतेर वह नष्ट भी होजाय परन्तु तो भी वह अपनी मलिनता नहीं छोड़ सक्ता। शरीर भी ऐसा ही है। इसको कितना ही धोओ परन्तु मलिनका मलिन हैं। इसलिये गंगादि नदियोंमें धर्म समझकर स्नान करनेसे शरीरकी अवस्था बदलती नहीं है। कदाचित् बदल भी जाय तो इससे क्या आत्मा पवित्र होगया? सूअर, भैंसा, मछली आदि जीवोंका शरीर और मुर्दा पानीमें सतत् पड़ा रहनेसे शुद्ध नहीं होता।

आत्मा बड़ी पवित्र है, अमूर्तीक है, ज्ञानदर्शनमय है, विशुद्ध है। उसको पानी स्पर्श कर नहीं सक्ता, हा कर्मोंके

कारण वह पराधीन है इसलिये शरीरमें कैद है—संसारी है।

संसारी जीव हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, अन्याय, अत्याचार और घोर पाप करते हैं। व्यापारादि निमित्त अनंतजीव मारना, शिकार आदि कुत्सित आचरण करना, वेश्यागमन करना, मांस मदिरा सेवन करना, जूआ (द्यूत) खेलना, परस्त्री रमण करना, दूसरोंको सताना, दीन हीन जीव जन्तुओंको कष्ट देना, दारा दासी, और सेवक जनोंपर अन्याय करना, अन्याय और दगासे व्यापार करना, भोले भाइयोंको ठगना, भ्रूण हत्या करना, इत्यादि समस्त कर्मोंसे होनेवाला पाप क्या गंगा नदियोंमें स्नान करनेसे छूट जायगा? पाप करना और स्नानकर लेना—मोक्ष प्राप्त होगई, तो तप-ध्यान, संयम, सदाचार, सत्कर्म और परोपकार कार्य क्यों करना? ईश्वरोपासना क्यों की जाय? मछली आदि जीव जो सदा पानीमें रहते हैं मोक्षरूप क्यों नहीं माने जाय? परन्तु यह बात नहीं है। पापोंका निवारण स्नान करनेसे नहीं होता, वह तो सदाचार पालनेसे और पापोंको छोड़नेसे होता है। हां यह दूसरी बात है कि उससे बाह्यशुद्धि होती है न कि धर्म। पापके कार्य करनेसे बाधे हुए अशुभ कर्म तो अच्छे २ काम करनेसे, सदाचार पालन करनेसे तप, ध्यान और संयमाराधनसे दूर होंगे न कि नदियोंमें हजारों जीव मारनेसे, इससे और उलटी हिंसा होती है जो पापका कारण है। कफवाले रोगीको शक्कर पिलाना व्याधि बढ़ाना है, पापोंको छोडनेके लिये अगणित जीव हिंसा और पापोंके बढ़ाती है। इसलिये इसको अज्ञानताका अनुकरण अशुभ प्रवृत्ति कहा जाता है। अज्ञानताका नाम मूढता है।

इससे यह न समझना कि आंठ प्रकारकी लोकशुद्धि मानना ही नहीं चाहिये–स्नान करना ही नहीं चाहिये। नहीं, लोकशुद्धि शुचिताका कारणभूत है, बाह्यचारित्र है–शुभाचरण है। बाह्य विकारोंका असर बडा भयंकर होता है। यदि बाह्य शुद्धिपर ध्यान न दिया जाय तो अनर्थ होजाय। रजस्वला स्त्रीका प्रत्येक पदार्थ-पर कितना असर पडता है। यदि गर्भिणी स्त्री सर्पको देखे तो सर्प अन्धा होजाता है। रजस्वला स्त्रीकी दृष्टिसे पापड आदि कोमल पदार्थ विकारित होजाते हैं। इसलिये ऐसे विकारी अशुचि पदार्थोंकी शुद्धि तो करना चाहिये–अशुद्ध शरीरको धोना चाहिये। स्नान करना, रजस्वलाका स्पर्श चार दिन तक नहीं करना आदि आठ शुद्धिको पालन करना चाहिये। ये धर्म हैं! इनसे पाप छूट जाते हैं? आत्म कल्याण होता है? मोक्ष मार्ग प्राप्त होता है? यह सब अज्ञान है, मूढता है।

पर्वतसे गिरकर धर्म मानना, इसका कारण यह है कि ऐसा करनेसे मरनेसे कष्ट नहीं होता, और कष्ट नहीं होनेसे मोक्ष मिलती है अतएव यह धर्म है, ऐसा मानना अज्ञानता भरा हुआ है। कारण प्रथम तो आत्मघात प्रत्यक्ष है, दूसरे कष्ट नहीं होता यह ठीक नहीं, पर्वतादि विकट स्थलोंके पातसे भय, मोह और अशुभ विचार होता है? इतना ही नहीं किन्तु आर्त और रौद्र

---

१ आठ शुचि–भस्म शुद्धि, गोमय शुद्धि, काल शुद्धि, अग्नि शुद्धि, मृत्तिका शुद्धि, जल शुद्धि, पवन शुद्धि, और ज्ञान शुद्धि, ये आठ प्रकारकी लौकिक शुद्धि हैं। लौकिक शुद्धि बाह्य शौचाचारकी कारणभूत है, व्यवहार धर्म है। शौच गृहस्थोंकी ग्लानिको दूर करता है।

भाव होनेसे एक कुगतिका कारण होता है। इस प्रकारकी अज्ञानता राजनीति, धर्मनीति और सदाचारके विरुद्ध है, अशुभ प्रवृत्ति है इसी लिये यह भी मूढ़ता है।

अग्निपात—बहुतसे लोग स्त्रियोंके पतिके साथ जीती हुई जल जानेमें धर्म मानते हैं, और ऐसा करनेसे मोक्ष होती है, यह भी अज्ञानता है। शील व्रत (पतिव्रत पालन) स्त्रियोंका परम धर्म है परंतु उसका यह अभिप्राय नहीं कि अग्निमें पड़कर आत्म-हत्या करना—यह तो भयंकर पाप है। पातिव्रत आदि धर्मकी विशुद्ध भावना है—पवित्र आचरण है। हत्या—हिंसा है, भला यह तो सोचो कि जीवित प्राणीके जल जानेसे उसके परिणामोंमें कितनी आकुलता होती होगी जो भयानक कर्मबंधका कारणभूत है। राजनीति ऐसे पाशविक अत्याचारोंसे दंडित करती है तो फिर इसमें कैसा धर्म? यह सब अज्ञान लीला है।

होलीमें पशु होमना, गायको देव मानकर पूजना, सूर्यको देव मानना, ग्रहणके समय अशुचि मानना और उसके मोक्षसे आत्मशौच मानना आदि सर्व अज्ञान पद्धति है। पशु होम तो सर्वथा ही अज्ञान और हिंसा है। गाय पशु है, उसमें देवत्वका भाव क्यों होसकता है। हां वह दूध, घी आदिसे उपकार करती है इसलिये उसका उपकार मानना चाहिये उसको देव मानकर पूजना अज्ञान है। सूर्य जड़ पदार्थ है, प्रकाश करना उसका स्वभाव है। उसमें देव बुद्धि रखना मिथ्या कल्पना है। इसलिये यह सब मूढ़ता है इत्यादि बहुत प्रकारकी लोक प्रवृत्ति लोक मूढ़ता है।

[illegible]

भेडियाधसानके समान विना विचारे किये जांय। ऐसी प्रवृत्ति, ऐसा आचरण कि जिनका तत्व बिलकुल समझमें नहीं हो अथवा कुछ और ही हो—अज्ञतापूर्वक लोकानुकरण, लोकमूढता है। एक महात्मा गंगा स्नानकर नदीके किनारे एकान्तमें समाधिस्थ होना चाहते थे। उनके पास एक लोटा था उसको कोई चुरा न लेजाय इस भयसे उनने वह लोटा बालूमें गाढ दिया और ऊपरसे बालू (रेत) की ढेरी कर दी जिससे लोटाके स्थलकी पहिचान रहे। उनके इस कर्तव्यको दो चार मार्गमें जाते हुए मनुष्योंने देखा। उनने भी वैसी ही बालूकी ढेरी यह समझकर बनाई कि 'बालूकी ढेरी करनेसे महान सिद्धि होती है। सच्ची देवसेवा तो तत्काल ऐसी ढेरी बनाकर पूजनेमें है। इस प्रकार महात्माकी ढेरीके देखादेखी थोड़ेसे समयमें वहापर बहुतसी ढेरी होगईं और पत्र पुष्पोंसे परिपूर्ण होगईं। महात्मा जब समाधिसे जागृत हुए तो देखा कि चारों तरफ बालूकी ढेरी२ है, किस ढेरीमें मेरा लोटा है? इसका ज्ञान भी न रहा और लोगोंकी अनुकरण पद्धतिकी अज्ञतापर हंसने लगे। ठीक इसी प्रकारकी बुद्धिसे अविचारपूर्वक लोगोंके अनुकरण-को अज्ञता कहते हैं। जिन आचरणोंमें आत्मधर्म विकाशके लक्षण न हो, आत्महित न हो, कल्याणका मार्ग न हो, धर्मतत्व न हो, वस्तु स्थितिकी परीक्षा न हो, विचार न हो वे सब आचरण अज्ञताभरे हुए हैं—वस्तु स्थितिसे विपरित हैं, धर्माधर्मके विचार रहित हैं। ऐसी लोकप्रवृत्तिसे धनादिकी ही हानि नहीं होती किन्तु समयका दुरुपयोग है और पदार्थोंका विपरीत श्रद्धान करनेसे सच्चे धर्मकी परीक्षा नहीं होती, आत्म कल्याण नहीं

होता, भलाईके स्थानमें आत्म परिणामोंमें उलटी वाधा–मलिनता उत्पन्न होजाती है। इसलिये सम्यग्दर्शन भी ऐसी क्रियाओंके आचरणसे मलिन होजाता है। पदार्थोंके सच्चे स्वरूपका श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। और पदार्थोंका विपरित स्वरूप श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शन ससार बंधन और दुःखोंका कारण है, अतएव लोकमूढताका त्याग करना चाहिये–प्रत्येक पदार्थका विचार कर ग्रहण करना चाहिये, परीक्षा कर ग्रहण करना चाहिये। छोटीसी छोटी बातोंमें कितना विचार किया जाता है, तो जिससे आत्मकल्याण होता है, अविनाशी सुख मिलता है ऐसे धर्मकी परीक्षा कर ग्रहण न करना, अथवा विचार न करना ही अज्ञता है और अज्ञता दुःखदायक होती है। लोकमूढता भी अज्ञता है इसको छोड देना चाहिये ॥ २४–२९ ॥

देव मूढता–देव चार प्रकार (भवनवासी व्यतर ज्योतिष और कल्पवासी) होते हैं। देवगति नामा नामकर्मके उदयसे उक्त देव पर्यायमें अपना जन्म लेनेसे इनको देव कहते हैं। इनका वैक्रियक शरीर होता है और अवधिज्ञान भी होता है। कर्मोपाधि होनेसे, ये भी ससारी है, सदोष हे, जन्म मरणादि व्याधियोंसे परिपूर्ण है, रागद्वेषादि दोषोंसे विकारवान हैं।

ऐसे देवोंको अपनी हित कामनाके लिये–आत्महित प्राप्त करनेके लिये अरहत देवके समान पूजना, उनको सुदेव मानना मूढता है। इनकी पूजा लोग मत्रादिकी सिद्धिके लिये करते हैं, क्योंकि ये देव रागी है, द्वेषी हैं, संसारी हैं परन्तु इनमें अपार शक्ति होनेसे ये अपने आराधकोंके मनोरथोंको पूर्ण करसक्ते हैं,

इनके आराधनसे सिद्धि होती है इसलिये इनकी पूजा, मोक्ष मार्गमें उपयोगी नहीं है, किन्तु धनादिकके व्यामोहसे प्रत्युत संसारवर्द्धक है। सम्यग्दृष्टि नैष्टिक श्रावक अपने स्वार्थके लिये इनकी पूजा नहीं करता।

उक्त देवोंमें भी कितने ही देव सम्यग्दृष्टि हैं, पाक्षिक श्रावकके मोहनीय कर्मका विशेष उदय है अतएव वह अपनी मनोकामनाके लिये, धर्मरक्षाके लिये, मन्त्रादिकी सिद्धिके लिये इनका आराधन जिस प्रकार सम्यग्दृष्टीका आदर अन्य सम्यग्दृष्टी करता है उसी प्रकार करता है और फल भोक्ता होता है।

कभी कभी धर्मरक्षा निमित्त अति विकट समस्या उपस्थित होती है—धर्मरक्षा अगणित प्राणोंकी आहुति करनेपर, और धनादि सामग्रीकी भयंकर हानि सहन करनेपर भी नहीं होती, ऐसे समय धर्म रक्षार्थ इन देवोंका आराधन मन्त्रपूर्वक किया जाता है और इनका सत्कार उनके योग्य किया जाता है। प्रतिष्ठादि कार्योंमें परकृत अनेक भय और विघ्नबाधा होनेकी संभावना होती है अतएव उस समय यथायोग्य इनका आराधनकर धर्मरक्षा की जाती है। विधिपूर्वक इनका आह्वानन करनेसे सातिशयता भी होने लगती है।

परन्तु इनसे मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं होसक्ती, आत्मकल्याण नहीं होसक्ता, आत्मधर्म विकाश नहीं होसक्ता, कर्म निवृत्ति नहीं होसक्ती, इसलिये ये उपादेय नहीं हैं, श्रद्धेय नहीं हैं।

लोक मान्य ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, काली, महाकाली, पीर पैगंबर आदि देव, देवगतिमें नहीं होनेसे देव भी नहीं कहे जाते

और संसार बंधन नष्ट नहीं होनेसे देवाधिदेव भी नहीं कहलाते, किन्तु संसारी हैं, सरागी हैं, सदोषी हैं, इतना ही नहीं, किन्तु उनका स्वरूप परमात्माके स्वरूपसे बिलकुल विपरीत है, मिथ्या है, इसलिये ऐसे देवोंका सेवन तो प्रत्यक्ष ही मिथ्या दर्शन है। ऐसे देवोंको अदेव कहते हैं। इनका पूजन आदर-सत्कार और मान्यता भी पदार्थके स्वरूपमें भ्रमोत्पादक है, विपरीत है, अयोग्य है, अज्ञानता पूर्ण है।

जो देव स्वयं रागी, द्वेषी, कर्ममल लिप्त-और मोहकी अनेक विडंबना सहित है वे अन्यको किस प्रकार निर्दोष बना सक्ते हैं? कर्मफंद किस प्रकार नाश करा सक्ते हैं? विषय कषायोंसे लिप्त रागी द्वेषी देवोंका आराधन, पूजन, अज्ञता पूर्ण है। विषय कषायोंको दूर करनेके लिये दोषोंको त्याग करनेके लिये, व्यभिचार आदि कुत्सित पापाचरणोंको छोडनेके लिये, विषय कषायी देवोंकी आराधना करना शीत रोगीको नदीमें स्नान करनेके समान है।

देवाधिदेव-सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी अरहंत भगवान् हैं। वे ही मोक्षमार्गके प्रधान नेता हैं, सच्चे उपदेशक हैं, राग द्वेषादि विकार रहित हैं। उनकी पूजा आत्म धर्म विकाशके लिये, और सुख शान्ति प्राप्त करनेके लिये है।

अरहंतके स्वरूपमें विकार बतलाकर उनको अरहंतके नामसे पूजना भी देवमूढ़ता है। श्वेतांबर लोग अपने देवका अरहंत आदि नाम धरते हैं परन्तु उनका स्वरूप तथा लक्षण, बिलकुल विपरीत मानते हैं, सरागी मानते हैं, रागद्वेष पूर्ण सदोष मानते हैं इसलिये श्वेतांबरोंके मंदिरमें रागद्वेष चिह्नोंसे पूर्ण, अरहंत नाम धारक अरहं-

मासोंको पूजना महा मिथ्या है। स्वरूप भ्रांति है। अज्ञता है. स्वरूप विपर्यास है। पदार्थोंका स्वरूप ही विपरीत है तो उससे सम्यग्बोध नहीं होगा, कल्याण नहीं होगा। वातके रोगीको कफका रोगी समझकर (विपरीत निदान) यदि औषधि की जायगी तो उलटा रोग बढेगा अथवा अपच रोगीकी चिकित्सा शक्ति-हीन समझकर पौष्टिक पदार्थोंके भक्षणसे की जायगी तो मरण सिवाय गति नहीं होगी। ठीक, उसी प्रकार स्वरूप विपर्यासमें सत्य स्वरूप समझकर उपासना की जायगी तो विषपानके समान भयंकर होगी।

देव मूढता अनेक प्रकार होती है—परिणामोंकी अस्थिरता आत्म विचारोंकी कमजोरी, आत्म-धर्म पालनेकी कायरता, तत्वा-तत्वकी अपरीक्षा, अज्ञानकी प्रवृत्ति, व्यामोह, विषय कषायोंकी विषमयी स्नेहता, अविवेक, कुत्सित राग और विचारशून्य बुद्धिसे होती है। देव मूढता-एक प्रकार अज्ञान है और अज्ञान दुःखप्रद होता है।

वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपका बोध होना, वस्तु स्थितिको सत्य २ जानना, पदार्थ स्वरूपको कारण विपर्यास, स्वरूप विप-र्यास, लक्षण विपर्यास और फल विपर्यास रहित एवं व्यामोह रहित, यथार्थ रूपको जानना ही सम्यग्ज्ञान है और ऐसे ज्ञानसे ही वस्तु परीक्षा सत्य २ होसक्ती है। परीक्षित वस्तु उपादेय होती है, परीक्षित औषधी शांति प्राप्त कर सक्ती है, परीक्षित मार्ग निर्भय और निराकुल होता है।

वस्तुके स्वरूपके प्रतिपादन करनेमें पक्षपात या स्वार्थ अथवा व्यामोह नहीं करना चाहिये। और न वस्तुके यथार्थ स्वरूपके

वस्तु स्वरूपको विचारो, शीघ्रता न करो, भयभीत न हो, अज्ञ न रहो, दृढतासे सत्यपर विश्वास करो, लोभसे फँसो मत, विपरीत स्वरूपको ग्रहण न करो।

पाखंडि मूढता–लोभी, दंभी, क्रोधी, मानी, विषयासक्त, और परिग्रहधारक गुरुओंकी सेवा करना ही पाखंडि मूढता है।

मनुष्य सद्गुणोंसे श्रेष्ठ बनता है और सदाचारसे पूज्य समझा जाता है, साधारण मनुष्योंमें और गुरुओं (साधु–महंत–महात्मादि) में यदि भेद है तो केवल उक्त दोनों बातोंका है। साधारण मनुष्य गृहस्थकार्योंमें लवलीन होनेसे लोभतृष्णासे लाला-यित होनेसे, विषयों (पांच इंद्रियोंके भोग–स्त्रीसेवन, मिष्ट और स्वादु पुष्टिकारक पदार्थोंकी आसक्तिता, मनोहर रूप देखनेमें व्या-मोहतादि)में अनुराग होनेसे, कषायोंसे विकृत होनेसे और हिंसादि पापाचरणोंके करनेसे असदाचारी हो रहे हैं, हिंसादि पापोंमें लिप्त हो रहे हैं, आत्मज्ञानसे शून्य हो रहे हैं, गृहस्थीके कारण सदाचार पालनेमें असमर्थ हो रहे हैं, आत्मधर्म विकाश करनेमें मोहसे कायर हो रहे हैं, सत्कार्य करनेमें गृहचिन्तासे विमुख हो रहे हैं, संयमाराधनमें शक्तिहीन होरहे हैं। तप, ध्यान और आत्मस्वरूपमें लीन होनेके लिये ब्रह्मचर्यके अभावसे भयभीत हो रहे हैं, उत्तम क्षमा न होनेसे क्रोधी हो रहे हैं, सरलता (मार्दव) न होनेसे कपटी हो रहे हैं इत्यादि अगणित बातोंमें गृहस्थी मनुष्य गुरुओंसे पीछे हैं, परन्तु यदि गुरु ही असदाचारी हों, हिंसक हों, कामातुर हों, क्रोधी हों, आरंभी हों, लोभी हों, रागी हों, व्यभिचारी और अन्यायी हों, दंभी हों, मदिरा, भांग, गांजा

आदि निंद्य पदार्थोंके भक्षण करनेवाले हों, आत्मज्ञानसे रहित हों, आत्मधर्म, संयम, तप, ध्यान और सद्गुणोंको नहीं जानते हों तो ऐसे गुरुसे गृहस्थी ही श्रेष्ठ होंगे। ऐसे गुरु कर्मबंध बांधते हैं, और संसारमें भ्रमण करते हैं। यदि आत्मासे बुरी आदतें दूर नहीं हो सकीं, मन और इन्द्रिय वश न हो सका, मोह और तृष्णा न जीत सके तो कहना होगा कि ढोंग है, साधुका भेष धारण कर रखा है—नाममात्रके साधु हैं। ऐसे साधुओं (गुरु) से आत्मलाभ नहीं होता, ऐसे गुरुओंको धर्माधार मानकर उनसे अपना आत्मकल्याण समझकर पूजा करना, उनका आदरसत्कार करना दान देना आदि पाखंडि मूढता है।

बहुतसे मनुष्य अपने बच्चोंकी रोगिष्ट अवस्थामें अथवा झूंठे भ्रममें आकर झाड़ फुकवाते हैं, धुनी दिखाते हैं और मान्यता करते हैं। उनको विचारना चाहिये कि ऐसे पाखंडी जटाधारी, लठाधारी, बाबाओंके पास न तो मंत्र सिद्धि है और न कुछ करामात है—न ये गुरु हैं और न सदाचारी हैं, आत्मज्ञान हीन हैं। ये भिक्षाके बहाने मां बहिन बेटीको कुदृष्टिसे देखते हैं, भांग गांजा आदि पीकर व्यसन सेवन करते हैं ऐसे साधुओंको धर्मगुरु, धर्माधार, पवित्र, मोक्षमार्गके उपासक, सदाचारी, परोपकारी, हितोपदेशक और आत्म कल्याण करनेवाले मानना भारी अज्ञानता है। ३ पाखंडि मूढता है ॥ २६ ॥

इस प्रकार कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओंकी सेवा करना ही केवल अज्ञता नहीं है किन्तु ऐसे कुदेवादिकोंके उपासकोंकी—उनके अज्ञान कार्यकी प्रशंसा करना भी अज्ञता है। जो मनुष्य पदार्थके

स्वरूपको जाने नहीं, ऐसे मनुष्यके कर्तव्य भी अज्ञानपूर्ण होंगे। अज्ञान कार्य आत्म धर्म घातक है इसलिये ये छह अनायतन सम्यग्दर्शनमें दूषण लगा सके हैं, अतएव इनको छोड़ देना चाहिये ॥ १७ ॥

शंका, कांक्षा, जुगुप्सा, मूढता, अनुपगूहनता, अस्थिरीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये दोष और हैं जो सम्यग्दर्शनमें दोष लगाते हैं और इनसे विपरीत आठ गुण हैं ॥१८।१९॥

विश्वास ही समस्त कार्योंका प्रवाहक है। प्रेमका बीज है, लोक व्यवहार विश्वासता पर निर्भर है, व्यापार लेनदेन सब विश्वाससे होते हैं। एक मनुष्यका यह दृढ़ विश्वास है कि चोरी करना बुरा है इसलिये वह कभी चोरी नहीं करता ! इसका कारण विश्वास है। रोगीका विश्वास औषधी पर होगा तो लाभ होगा नहीं तो विशेष हानि होगी। इसी प्रकार जिसका आत्मा, तत्वों, धर्म, परमात्मा और परलोकपर पूर्ण विश्वास है, श्रद्धा है, अविचक प्रेम है, पूर्ण अनुराग है, रुचि है, भक्ति भावना है, निश्चय है तो ही वह धर्मका अनुयायी समझा जायगा। अन्यथा जबतक उसके हृदयमें शंका है, आत्म परिणामोंमें तत्वोंकी दृढता नहीं है, आत्म विश्वास नहीं है तबतक वह उसका पात्र ही नहीं है। धर्मकी पात्रता श्रद्धासे होती है, विना श्रद्धाके आत्म भावोंमें अनुराग नहीं होता, प्रेम सचार नहीं होता, भक्ति नहीं होती और न मलिनता ही दूर होती है। इसलिये जिनेन्द्रोक्त तत्वोंमें शंका न करो।

अंजन नामक चोरने इस अंगको पूर्ण पाला था। उसके चरित्रसे सबको निशङ्कित होना चाहिये। अंजनचोरकी कथा इस प्रकार है–

अञ्जनचोरकी कथा।

राजग्रह नामक नगरमें एक जिनदत्त सेठ अति धर्मात्मा और सदाचारी था। एक समय चतुर्दशीके दिवस सेठ प्रोषधोपवास धारणकर मसानभूमिमें जाकर आत्मध्यानमें लीन होगये, संसारके समस्त विकारको तजकर निर्भय होगये, और (एको मे शाश्वतः आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षण.) इस तत्वज्ञानमें पूर्ण रूपसे निशंकित होगये। इसी समय दो असुर देव धर्मकी परीक्षा करनेके लिये वहांपर आये। पास ही में एक जमदग्नि नामक बड़ा समाधिस्थ था उसके धर्मकी परीक्षाके लिये जमदग्निसे उन देवोंने कुछ प्रश्न किये। प्रश्नोंके पूछते ही जमदग्निमहाराज जमरूप महा विकराल होगए, क्रोधसे सब विचार भूल कर आत्म धर्मसे च्युत होगये, धर्म पालन करनेकी आत्म परीक्षामें भग होगये। तापसं की ऐसी अवस्था देखकर वे देव वहांसे जिनदत्त सेठके पास आये और उनमेंसे एक अमित प्रभदेव कहने लगा कि मित्र! ये जैनधर्मके महात्मा–मुनिराज नहीं है, तो भी जैनधर्मके पालक गृहस्थ हैं परन्तु इनकी आत्मा कितनी निशंक है–निर्भय है? ये अपने धर्ममें कितने विश्वसित हैं? चलो परीक्षा करें। इस उद्देशसे जिनदत्त सेठको उस ध्यान अवस्थामें घोर उपसर्ग किया–धर्मसे च्युत करनेके लिये अनेक लोभ दिखाया, भय बतलाकर आत्म परिणामोंकी दृढताकी परीक्षा की, परन्तु अचल श्रद्धानी सेठ जरा भी

ही शंका करता–संदेह करता तो सोमदत्तके समान विफल मनोरथ होता। निर्भयता और धर्मकी आस्था विश्वासमें ही है। संशय मनवाला मनुष्य कुछ कर नहीं सक्ता, किन्तु सदेहसे विशेष हानि उठाता है। धर्म आत्म स्वभाव है। आत्म स्वभावमें विश्वास रखना ही चाहिये। हां अनेक धर्मोको देखकर मन दुविधामें हो तो धर्मकी परीक्षा निष्कपट भाव (सरलता) और निष्पक्षपातसे कर निश्चित धर्मपर विश्वास करो।

अंजनचोरको किसी प्रकारकी शंका न होनेसे विद्या सिद्धि हुई और धर्मका ऐसा अतुल महात्म्य जानकर वह चोर जिनधर्मको ग्रहणकर मुनिव्रतको धारणकर, अविचल सुखको प्राप्त हुआ।

धर्मका विकाश श्रद्धापर है। यदि मनमें कुछ शंका नहीं है, और यह दृढ विश्वास है कि 'अर्हंतदेव ही सच्चे देव हैं, जिनागम ही यथार्थ रूप पदार्थोंका निरूपण करता है, इस प्रकारके भावोंसे सच्चे तत्वोंपर प्रीति उत्पन्न होती है और आत्म भावना दृढ होती है जिससे निर्भय होकर अनंत सुखको यह जीव प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

कांक्षा–सत्कार्यकर फलकी चाहना आकांक्षा है। सदाचार, परोपकार, अथवा सत्कार्य, आत्म गौरव या प्रतिष्ठाके लिये न करना चाहिये, किन्तु मनोभावनाको विशुद्ध बनानेके लिये करना चाहिये।

व्रत, सदाचार अथवा अन्य कोई धर्मकृत्यकर उससे सांसारिक सुखकी–भोगोपभोगकी चाहना न करना चाहिये। ऐसा निदान करनेसे आत्म भावनामें उत्साहशक्ति कम होजाती है और पवि-

व्रता नष्ट होजाती है इतना ही नहीं किन्तु इस प्रकार व्रतादिक कर फल चाहनेसे आत्म कर्तव्योंके मुख्य उद्देश (लक्षसे) पतन होता है। ऐसा करनेसे सदाचारका महात्म्य ही कम नहीं होता प्रत्युत उच्च भावना भी नष्ट होजाती है।

दूसरे जिन भोगोपभोग और इंद्रिय जनित सुखोंका निदान किया जाता है—फल प्राप्तिकी इच्छा की जाती है, वह फल पुण्योदयसे प्राप्त होगा, परन्तु इंद्रियजनित सुख भी संसार बंधनका कारण है, सतृष्ण है, आकुलता लिये है, और विषभरे हुए कुम्भके ऊपर अमृतके लपेटके समान परिणाममें दुखप्रद है। जिन दुखोंसे भयभीत होकर तो सदाचार धारण किया, व्रत पालन किये और उनको फिर चाहना कितनी अज्ञता है। अपथ्यसे रोग हुआ और उसको दूर करनेके लिये पुनः अपथ्य करना जैसे भयङ्कर है, ठीक उसी प्रकार संसारके दुखोंसे छूटनेके लिये धर्माचरण धारण किया और उसके फलसे इन्द्रादिक भोगोंकी चाहना भी उससे अधिक भयङ्कर है।

बात भी यह सच है, फल चाहनावाले—स्वार्थसे परमार्थ कार्य उत्तम नहीं होसके। फल चाहनेकी आवश्यकता क्या? फूलकी सुगंधी स्वयं विस्तरित होगी। उत्तम बीज स्वयं अंकुरित होगा। सदाचार और धर्माचरण स्वयमेव बिना चाहे ही मनोरथ पूर्ण करेंगे। उच्च सत्कार्योंकी आदर्शता फल चाहनेमें नहीं है।

अनंतमतीने बाल अवस्थामें ही व्रत लिया था। यदि उसको संसारके सुखोंका लोभ होता तो वह पटरानी होजाती, परन्तु धर्मकी महिमाके सामने विषयोंके सुख तुच्छ हैं, विनाशीक, दुःखसे

पूर्ण हैं, चिन्ता और व्याधिके स्थानभूत हैं। इसलिये व्रतोंको धारणकर सांसारिक सुखको नहीं चाहना चाहिये।

निरपेक्षता और निःस्वार्थता सदाचारकी भित्ती है, किसी मनुष्यकी कुछ भलाई की और उससे अपनी ख्याति, आत्म प्रशंसाकी आकांक्षा करना भलाईका विक्रय करना है। निरपेक्ष छोटे२ सत्कार्योंसे और छोटी मोटी स्वाभाविक दयासे जितनी आत्मोन्नति होती है उतनी बड़े२ स्वार्थी और सापेक्ष कार्योंसे नहीं। आत्मगुणोंका विकाश निरपेक्षता और निःस्वार्थता पर पूर्ण अवलंबन रखता है। पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनेके लिये बिलकुल ही निरपेक्ष होना चाहिये। आकांक्षा इच्छासे उत्पन्न होती है। इच्छाका होना एक प्रकारका विकार है, सर्वोत्कृष्ट होनेके लिये इच्छादि विकारोंको जीतना ही महत्वताके चिह्न है। मुनिराज संसारका उपकार विशुद्ध भावनासे करते हैं, निरपेक्ष वृत्तिसे करते है जिससे विश्वके जीव उनपर स्वाभाविक विश्वास कर लेते है। इतना ही नहीं किन्तु इच्छायें आकुलताको उत्पन्न करती है जिससे आत्माकी प्राकृतिक शांति उत्पन्न नहीं होसक्ती है। निरीच्छासे किया हुआ उपकार जीवमात्रमें अद्भुत चमत्कार करता है, संसारको आकर्षित करता है। यदि आत्मामें पूर्ण निःस्वार्थता और निरीच्छासे परम शांति होगई है तो उसकी भावना प्राकृतिक वैरको छोडकर शांतिसे सब जीव ग्रहण करेंगे यह फल विना इच्छाके ही आत्मा गुणोंके विकाश होनेसे स्वयमेव ही प्राप्त होजाता है। और वह संसारके सुखोंसे अनंतगुणा है ॥ २१ ॥ ५

जुगुप्सा—संसारमें कर्मोदय सबको होता है। चाहे गरीब

हो या अमीर, सुखी हो या दुःखी, अशुभ कर्मका उदय सबको एक समान फल प्रदान करता है। इसलिये किसी महात्मा—सदाचारी मुनिराजके शरीरमें विभस्त व्याधि होगई हो, अथवा किसी धर्मात्माके शरीरमें रक्तविकार, कोढ, संग्रहणी आदि व्याधि हो गई हो जिससे उनके ऊपरी शरीरमें ग्लानि होती है, उसको जुगुप्सा कहते हैं।

घृणित पदार्थोंको देखकर ग्लानि करना ठीक नहीं, क्योंकि कर्मोदय सबको एक समान भोगना होता है। कर्मोदयसे ऐसी घृणा अपने शरीरमें हो सक्ती है, किंतु यह विचारना चाहिये कि धर्मात्माकी दृढताको धन्य है कि ऐसी असह्य पीडा, और घृणित व्याधिके होते हुए भी रत्नत्रयमें सावधान रहते हैं। प्राणोंकी कुछ भी अपेक्षा न कर अति कठिन सदाचार पालनेमें लवलीन रहते हैं। मनुष्य प्राय दुःखके समय चारित्रको छोड देते हैं, यह उनकी दृढता नहीं है, यह उनकी आत्म परीक्षाकी अशक्ति है, कायरता है।

शरीर सदैव अपवित्र और स्वभावसे घृणित है। पीव, रुधिर आदि विकारोंका स्थल है, ऊपरसे सुंदर चर्म लपेटा हुआ है। शरीरके ऐसे स्वभावमें घृणा करना अज्ञता है। घृणा द्वेषसे उत्पन्न होती है, द्वेष संसार बंधन और भयका कारण है। इसलिये अशुभ पदार्थोंको देखकर घृणा न करनी चाहिये, साम्यभाव धारण करना चाहिये।

मुनिके नग्न शरीरको देखकर घृणा करना भी महान अज्ञता है, क्योंकि नग्न अवस्था घृणाका कारण नहीं है। शिशु (बालक)

नग्न रहता है। बालकके विशुद्ध हृदयमें विकार न होनेसे उसको अपनी नग्न अवस्थासे बिलकुल घृणा नहीं होती, और न दूसरोंको ही होती है। मुनिराजकी आत्मा अत्यंत विशुद्ध है इसलिये उनको स्वयं अपनी अवस्थासे घृणा विकार नहीं होता है। हां उनको देखकर जो घृणा करते हैं उनकी ही आत्मा विकारी है। उनका मन मलिन है। मलिन मनका होना ही अज्ञता है। किसी घृणित वस्तुको देखकर ग्लानि न करो। वस्तु स्वभावपर ग्लानि करना अज्ञता है, आत्मविकार है, हृदयकी मलिनता है।

पदार्थोंके स्वभावको जानना ही अभ्युदय है। कोई यथार्थ घृणित होते हैं तो कोई प्रिय। घृणित पदार्थोंसे यदि ग्लानि है तो पदार्थ स्वरूप जाननेमें कमी है। संसारमें यदि दुःख है तो पदार्थोंके स्वरूपको न जानकर अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोगमें है। इसलिये पदार्थके स्वरूपमें घृणा करना अच्छा नहीं।

आत्मा परम पवित्र है, अमूर्तीक है, घृणारहित परम विशुद्ध है, रूप, स्पर्श, रस और गंध रहित होनेसे घृणाके कारणसे भी रहित है। ज्ञान दर्शनमय-अनंत सुखमय है, विकार रहित है, ऐसी आत्माको वीभत्स पदार्थोंका संयोग नहीं होसक्ता, और न उसके इन्द्रिय हैं जिससे वह वीभत्स पदार्थोंकी दुर्गन्धसे भयभीत हो सदा निर्भय है, वह जड पदार्थोंसे रहित है।

ऐसी भयावस्था हो रही है। इसलिये ग्लानि

आत्मधर्म नहीं है। जबतक

भय है। भयका होना आत्म-

।

इस धर्मको उद्दायन नामक राजाने पालन किया था उसका चरित्र यह है–

उद्दायन राजाकी कथा।

भारतवर्षके रौरव नामक नगरमें उद्दायन नामका नीतिज्ञ, धर्मपरायण और प्रजाहितैषी राजा था, जिसकी धर्मपरायणता स्वर्ग तक विस्तृत थी। स्वयं इन्द्र महाराज इनकी धर्मबुद्धिकी प्रशंसा किया करते थे।

एक समय सभामें समस्त देवोंके सन्मुख उद्दायन महाराजके सद्गुणोंकी अति उदार भाषामें इन्द्रने सराहना की, मानव जातिमें इतने उदार और प्रशंसनीय गुण होसक्ते या नहीं? इस बातकी परीक्षाके लिये ही एक देव क्षुल्लकका भेष धारणकर उद्दायन महाराजके समीप आया।

जिस समय वह देव आया, तब उसने अपना क्षुल्लकका भेष ऐसा भयानक और बीभत्स बनाया कि उसके शरीरकी दुर्गन्ध मनुष्य सहन नहीं कर सक्ते थे। और शरीरसे कोढ व्याधिके कारण पींव निकल रहा था। समस्त शरीर गल जानेके कारण मांस दीखता था और मक्खियाँ भनभन करती थीं।

जब वह राज दर्बारमें पहुंचा तो उद्दायन महाराज उसको देखकर अपने मनमें यह विचारने लगे कि धन्य है इसकी दृढताको, धन्य है इनके सदाचारको और धन्य है इनकी सेवा महिमाको, जो इतना भयंकर शारीरिक क्लेश होनेपर भी तथा व्याधिसे बिलकुल सामर्थ्य हीन होनेपर भी अपने आत्म धर्ममें विशेष रुवलीन हैं। इस भयंकर वेदनाकी कुछ भी अपेक्षा न कर ये सदाचार

पालन करनेमें इतने दत्तचित्त हैं, अति दृढ़तासे आत्मोन्नति कर रहे हैं, यह विचारकर वे अपने सिंहासनसे शीघ्र ही उठे, और धर्म प्रेमसे महा सन्मान पूर्वक नवधा भक्तिसे उनको पड़गाया, विधि सहित आहार दान दिया।

पूर्ण आहार होने नहीं पाया था कि उस परीक्षक देवने वमन कर दिया। राजारानीने मिलकर क्षुल्लकके शरीरको प्राशुक जलसे धोया, कि पुनः उस देवने वमन कर दिया। राजा उस बीभत्सजनक कार्यको देखकर बिल्कुल न घबड़ाया, और न घृणा ही की, किन्तु अपने मनमें प्रकृति विरुद्ध आहार देनेसे पश्चात्ताप करने लगा कि मैं बड़ा अज्ञ हूं, गुरु देवके शरीरमें भयानक रोग है मुझे चाहिये था कि इनकी प्रकृतिके अनुकूल पथ्य आहार दूं, इस मेरी अज्ञानताको धिक्कार है कि जिससे यह अनिष्ट हुआ, मैं तबसे यही मान रहा था कि आज मेरा पुण्योदय है कि जिससे विशुद्ध चारित्रके धारक आत्मधर्ममें लवलीन और वस्तु स्वभाव जाननेवाले परम साहसी महात्माका दर्शन हुआ। आज मैं भी इनके सहयोगसे धर्म धारणकर परम पवित्र होता परन्तु अभी मेरा मंदोदय है जिससे मैं इन दृढ़ प्रतिज्ञ महात्माको पथ्य आहार न दे सका, इस प्रकारके विचारसे राजाने अपनी आत्म निंदा खूब की और अति भक्तिभावसे पुनः क्षुल्लकके शरीरको धोने लगा। क्षुल्लक भेषधारी देव राजाके विशुद्ध हृदय और सच्चे धर्म पालन करनेकी भावनाको देखकर परीक्षासे अनुभवकर परम प्रसन्न होता भया, राजाके अनिर्वचनीय गुणोंकी पूर्ण प्रशंसा की, और बारम्बार उनके धर्मकी स्तुतिकर स्वस्थान गया।

पदार्थमें ग्लानि नहीं है, पापोंमें ग्लानि है, दुःखसे डर नहीं चाहिये किन्तु दुःखोंके कारणोंसे भयभीत होना चाहिये। शरी प्यारा नहीं है, आत्मा प्यारा है। रूपकी पूज्यता नहीं, गुणों पूज्यता है। स्नान लेना सरल है, परन्तु सदाचारसे चलना कठि है। इसलिये पवित्रताका हेतुभूत पदार्थ नहीं है किंतु आत्मधर्म है वह सदा पवित्र है, शांतिमय है।

इस प्रकार उद्दायन राजाके समान विशाल और अति उदा होना चाहिये। दुःखी जीवोंको देखकर घृणा न करनी चाहि किन्तु उनके दुःखमें समभागी होना चाहिये। सदाचारी मनुष्यों स्वरूप (शरीरके रूप) को नहीं देखना है, धर्मात्मा मनुष्योंकी दरिद्री अवस्था नहीं देखनी है, त्रिलोक वंदित निस्पृही मुनि योंकी नग्न अवस्थापर विचार नहीं करना है, किंतु पात्रकी उत्तमता, सदाचारता और पवित्र गुणोंपर ही धर्मानुराग करना है। वही आत्म-धर्मको विकाश करेगा तथा सच्चे विनय और सदाचारकी महनीयताको जानेगा, धर्मकी स्थिरताके कारणोंको श्रेष्ठ समझेगा, धर्मात्माओंपर परम प्रेमी होगा, धर्म धारण करनेवाले महात्माओंका सच्चा भक्त होगा, वैयावृत्त करना उसका कर्तव्य होगा, धर्म ही उसका आत्मा है, धर्मको ही बन्धु, माता और पिता समझता होगा एवं उसके धारण करनेमें ही अपनी भावनाको लगाता है यही निर्विचिकित्सा गुण है॥ १५॥

पदार्थोंके जाननेमें अज्ञानता ही मूढता है। सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे धर्ममें अज्ञानता रखना भी मूढता है। स्वयं कुमार्गगामी होना अथवा कुमार्गमें चलनेवाले मनुष्योंका पक्ष करना

उनके धर्मकी सराहना करना, अशुभ प्रवृत्तियोंमें कदाग्रह रखना, अपने स्वार्थसे असदाचारको श्रेष्ठ मानना, धर्मनीति और व्यवहार-नीतिका उल्लंघन करना, अविवेक और हीनाचारसे रहना, जिन धर्म आत्म धर्मसे ग्लानि करना ये सब अज्ञानता है। इस प्रकार अज्ञानताके वश सत्य धर्मको नहीं जानना मूढ़ता है। मूढात्मा-ओंके कृत्योंकी तथा इसके उपासकोंकी प्रशंसा नहीं करना, उत्तमता प्रदर्शन नहीं करना, उसके सेवनमें आत्म कल्याण नहीं मानना, मोक्षमार्ग नहीं मानना, सदाचार नहीं मानना और पदा-र्थोंके सत्य स्वरूपमें प्रेम करना, सत्य धर्ममें अनुराग करना और आत्म धर्मको विकाश करनेवाले बाह्य आचरणोंमें पवित्र भावना रखना, विशुद्ध अंतकरणसे पवित्र जिन धर्मको धारण करना और सच्ची मनोभावनासे दया रखना ही निर्मूढता है।

पदार्थ स्वरूप जाननेमें और आत्म धर्म पालनेमें स्वार्थ और कदाग्रह नहीं रखना चाहिये। मेरे मित्र वकील हैं इसलिये वे बहुत अच्छा करते हैं यह सोचनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वयं पदा-र्थोंकी पवित्र ज्ञानसे परीक्षाकर अनुभव करो। स्मरण रखो स्वार्थ-प्रतिष्ठादि और कदाग्रह नीच अवस्था है। पदार्थोंके ज्ञानसे ही निर्मूढता अंग पलेगा।

कुमार्गगामी मनुष्योंकी तथा कुमार्गकी स्वार्थ–भय और सह-वाससे भी उत्तमता नहीं मानना, उनके निंपद्य गुणोंकी प्रशंसा नहीं करना, मनसे भी सराहना नहीं करना, और न अनेक प्रकारका लोभ दिखानेसे उसमें विश्वास करना ही निर्मूढता है।

इस अंगको रेवती रानीने धारण किया था उसका चरित्र यह है—

रेवती रानीकी कथा।

मथुरा नगरमें वरुण नामका एक न्यायप्रवीण राजा था। राजाकी रानी रेवती महा धर्मात्मा, अति पवित्र, तत्वोंको जानने-वाली और विचारवान थी।

चन्द्रप्रभु नामके विद्याधर त्रिगुप्ताचार्यने मुनिवरके समीप क्षुल्लकके व्रत धारण किये। वह विद्याधर सच्चे धर्मका परीक्षक था एवं प्राकृतिक दृश्योंके देखनेका परम प्रेमी था। इसी लिये क्षुल्लक व्रत ग्रहण करते समय इसने कुछ परम्परागत कुछ विद्याओंसे प्रेम रखा। और सब शेष परिग्रहसे ममत्व छोडकर आत्मधर्ममें लव-लीन हुआ।

एक समय इसको यात्रा करनेका भाव हुआ। और अपनी यह भावना गुरुदेवको अति विनीत भावसे व्यक्त की। अवधि ज्ञानी मुनि महाराजने इसको चारित्रमें दृढ़ जानकर स्वीकारता भी दी और वह भी तीर्थयात्रार्थ गमन करनेको उत्सुक हुआ। चलते समय इसने यह भी प्रार्थना की कि हे प्रभो! कुछ संदेश किसीको कहना है क्या? मुनि महाराज यह श्रवणकर कहने लगे—हे श्रावकोत्तम! सुव्रत नामक महा मुनिश्वरको वंदना कहना और रेवती रानीको धर्मवृद्धि कहना। वही व्रत और पास बैठे हुए और मुनीश्वरोंने की।

क्षुल्लक यह जानता था कि मथुरामें भव्यसेन नामके महा विद्वान समस्त शास्त्रके पारगामी मुनि भी विराजमान हैं। उनको गुरुदेवने क्यों वंदना नहीं कही? गुरुदेवके मनमें कुछ द्वेष है? अथवा भव्यसेनके चारित्रमें दोष है? इस प्रकार विचारमें वह

मग्न होगया और थोडीबार कुछ सोचकर यह कहने लगा कि अस्तु जो कुछ हो, सब देख लिया जायगा।

मथुरा आते ही क्षुल्लक सुव्रतनामक मुनीश्वरके पास गया और समस्त वृतांत कह धर्मोपदेश सुना। कुछ समयके बाद वह भव्यसेनका भेद लेनेको गया। भव्यसेन एकादश अंगका पाठी था, समस्त शास्त्रवेता था, अतएव वह बड़ा गर्विष्ट था, क्षुल्लकको वंदनाका प्रत्याशीर्वाद नहीं दिया। क्षुल्लकको इस कर्तव्यसे कुछ शंका तो हुई थी परन्तु फिर भी परीक्षार्थ एक घटना प्रारम्भ की वह यह कि, जिस समय भव्यसेन शौचार्थ बाहर गया, क्षुल्लकने उसके कमंडलका जल ढोल दिया और चारों तरफ सघन हरियाली विद्याके प्रभावसे करदी।

भव्यसेनने जीवोंकी दयाका विचार करे बिना ही उस हरित भूमिमें विहार किया, और तलावके अप्रासुक जलसे शौचशुद्धि की। सच है ज्ञानी होना और बात है और सदाचारसे पवित्र होना, अंतःकरणमें विशुद्ध दयाका रखना और बात है। सदाचारहीन ज्ञान कुछ कामका नहीं है। भव्यसेन एकादश अंगका पाठी है तो भी यथार्थ चारित्रसे हीन है। चारित्र आत्माको पवित्र बनानेवाला है, सच्ची दयाका बीज है, समस्त जीवमात्रको सदाचार बंधु समझता है, वह अपनी भावनाको अति विशुद्ध बनाता है। सदाचारकी उत्कृष्टता आत्मबल और आत्मकर्तव्योंको प्रत्यक्ष कर दिखाती है, आत्मसिद्धिको प्रमाणित करती है। ज्ञान यदि मिथ्या हो गया तो निष्काम है, अज्ञान है। ज्ञानी पुरुष यदि व्यसन सेवन करे—असदाचारी हो, सन्मार्ग गमन करनेमें अनुत्साही हो

अथवा स्वार्थसे सदाचारकी हीनतामें उत्तमता समझता हो तो कहना चाहिये कि वह ज्ञानी नहीं है। वर्तमानमें कुछ विद्वान पवित्र अंतःकरणसे सदाचार पालन करनेमें कायर होते हैं, ऐसे लोग अपनेको तत्ववेत्ता होनेकी डींग बहुत जोरशोरसे मारते फिरते हैं परंतु स्वयं सदाचार प्रवृत्तिमें—सदाचारकी उन्नत भावनामें बिल्कुल ही गिरे हुए होते हैं उनको सदाचारकी भावनापर लक्ष देना चाहिये। क्योंकि सदाचारकी छोटीसी भी मात्रा ज्ञानके भंडारसे बहुत अधिक महती और अनर्घ है। और एक बात यह भी है कि प्रायः जन समाज विद्वानोंका अनुकरण करता है। यदि विद्वान ही असदाचारी—कुत्सित हैं तो समाज भी वैसा होगा क्योंकि समाज सदा अनुकरण करता है।

भव्यसेन ज्ञानी होकर दयाहीन था, असदाचारी था इसलिये वह हीन था। औषधिका ज्ञान रोग दूर नहीं कर सक्ता, किन्तु औषधिका पान ही रोगको दूर करेगा, कुछ कर्तव्य सदाचारके करे बिना ज्ञान आत्म कल्याण नहीं कर सक्ता है। और जो मनुष्य जानकर दुराचारी—असदाचारी होता हो वह नितान्त अज्ञ है।

भव्यसेनकी इस प्रकार परीक्षाकर उस क्षुल्लकने रेवती रानीकी परीक्षा करनेके लिये अपना भेष ब्रह्माका बनाया और नगरकी पूर्व दिशामें अधिक ठाठबाटसे आकर उपस्थित हुआ। ब्रह्माको प्रत्यक्ष आया जानकर जनता एकदम एकत्रित होने लगी। अल्प समयमें राजा प्रजा सब उसकी पूजा करने आये। भव्यसेन भी गये और उनने भी खूब मान्यता की।

रेवती रानीको यह समाचार राजाने स्वयं पहुंचाया और

ब्रह्माके गुणोंकी, विभूतिकी मनमानी प्रशंसाकर वहांपर जानेको कहा परंतु सच्चे देवका यह स्वरूप नहीं है, परमात्मा समस्त विकारोंसे रहित परमपवित्र है, यह इस प्रकार नहीं हो सक्ता यह कहकर राजाको भी वस्तु स्वरूपका दिग्दर्शन कराने लगी।

इस परीक्षामें रेवती रानीको आयी न देखकर क्षुल्लक दूसरे दिवस विष्णुका भेष धारणकर नगरकी समस्त जनतामें क्षोभ उत्पन्न करता भया, परन्तु रेवती रानीका मन इस कौतुकसे भी चलायमान न हुआ, वह सत्य धर्ममें यथावत स्थिर रही। सच है सत्य धर्मका ग्रहण होनेपर स्वार्थ, भय और दूसरे कारणोंसे उसको छोडना मूर्खता है। इस प्रकार अनेक आश्चर्यकारक दृश्य प्रत्यक्ष दिखाकर असन्मार्गकी मान्यता अतुल विभूति, साक्षात अवतार और उपदेशकी महिमासे वह क्षुल्लक समस्त नगरकी जनताको वश करता भया। तो भी रेवती रानी इस महान दृश्यसे और जनताके अविचारक अनुकरणके प्रभावसे जरा भी सन्मार्गसे च्युत नहीं हुई। कोई कैसा ही आश्चर्यकारक चमत्कार दिखलावे, एवं राज्यका लोभ, प्राण त्यागका भय और विषय कषायोंका प्रलोभन दे तो भी सत्य धर्मका नहीं छोड़ना ही आत्मबल, सत्यता, पदार्थ परीक्षा और तत्व गवेषणा है।

एक दिवस वह क्षुल्लक वीर प्रभुका समोसरणका ठाठ जमाकर जन मन रंजन करने लगा। राजाने सोचा कि यह तो जैन धर्मके साक्षात् तीर्थंकर आये हैं, रेवती रानीको यह आनंदवर्धक समाचार कहकर वंदनाके लिये कहा। रानीने कहा कि २४ तीर्थंकर हो गये ऐसा जिनागम कहता है, यह पचीसवें कहांसे आये?

तरहसे करना चाहिये। धर्मकी भी परीक्षा विशुद्ध वृत्तिसे होती है। धर्मकी दृढता स्वार्थत्याग, अनन्यभाव और विशुद्ध प्रेमसे होती है। जिनधर्म आत्मधर्म है। यदि उसका ग्रहण आत्मकल्याणार्थ किया जाय तो वह संसारकी कठिनसे कठिन और प्राणोंके नाश करनेवाली परीक्षाओंसे नहीं छूटता है। वह परम निर्भय है, करुणामय है, प्रेममय है, अनंत सुखमय है, शांतिमय है, और समस्त विकारोंकी वह बिलकुल अपेक्षा नहीं करता। उसके सामने राज्यका लोभ तुच्छ है। संसारको लुभानेवाली करोड़ सामग्री उससे अत्यंत दूर है। जिस समय यह आत्मा उस पवित्र जिन धर्मको अपने विशुद्ध भावोंसे ग्रहण करता है, और उसकी खुबियोंका अपने आत्म परिणामसे निश्चय कर लेता है तब वह झूठे स्वार्थको लात मारकर गिरा देता है। वह झूठो आशाके फासमें नहीं पडता है किन्तु उसको अपना सर्वस्व समझकर अनन्यभावसे उसमें लीन होजाता है, तन्मय हो जाता है। सचमुच-धर्म और संसारके प्रपंचोंमें महान भेद है ॥ २६ ॥

अनुपगूहनता—सदाचारका मार्ग अत्यन्त कठिन है। आत्माकी बाह्य और आभ्यतर वृत्तियोंको विशुद्ध रखना अतिशय विषम कार्य है। संभव है कि ऐसे गुरुतर कार्यमें अज्ञानता और अशक्तिके कारणसे निंदाजनक कार्य किसी धर्मात्मासे बन जाय जिससे वह व्यक्ति ही केवल निंदाकी पात्र न होती हो किंतु धर्मकी भी साथमें निंदा (मिथ्यापवाद) होती हो तो उसके ऐसे निंदाजनक कार्यको प्रकट कर देना अनुपगूहनता है।

संयम तलवारकी धारके समान है। इस बातका अनुभव वे

ही महत्ता कम करते हैं जो केवल पालन करते हैं। शीलवान स्त्री (पतिव्रता) को अपने शील (ब्रह्मचर्य) की रक्षा करनेके लिये अपना जीवन, अपना बाह्य व्यवहार और आन्तरिक कर्तव्य इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक रखना होता है कि इसको अपेक्षा पुरुषकी अपार चलना पड़ता है। वे अपने शीलके रक्षार्थ अपने प्राणोंको तुच्छ समझती हैं और प्राणोंके मूल्य प्राणोंकी अपेक्षा अधिक शीलकी रक्षा करती हैं। इतिहासमें है कि हजारों सतियोंने विकट संकटको झेल अपेक्षा तुच्छ प्राणोंको आनन्दसे त्यागकर शील धर्मकी महिमा प्रकट की थी। कदाचित् इन्होंने केवल रक्षाके योग्य समझा नहीं, परन्तु वे व्यवहारसे क्या नहीं शिथिल न होकर दृढ़तासे इसको पालकर अपनी आत्मशक्तिसे शील धर्मको होने न दिया निश्चय व्यवहारको पुष्ट करके कल्याण किया इसलिये सदा-चार अत्यन्त पवित्र और दुर्लभ है।

धर्मकी परीक्षा व्यवहारपर अवलंबित है। व्यवहार रीति-नीतिमें भी धर्म है॥ निश्चयव्यवहार-सदाचार भी धर्मकी महत्ताको लानेवाला है यदि आचार विचार और बाह्य व्यवहार शिथिल है, सदाचार नष्ट है तो अवश्य ही आत्मधर्म मलिन है, विनाशक है, पतनकारक है।

जिन कारणोंसे व्यवहार धर्ममें शिथिलता होती हो, निश्चय-धर्म होता हो जिससे स्वधर्म नष्ट होती हो, सदाचार मनमा-ना नष्ट होती हो, वह धर्मकी महत्ता नष्ट होकर अनाचार फैल जाता हो, ऐसा कार्य किसी धर्मात्माके अनादरसे अथवा असद्भावके कारण कदाचित् होगया हो तो वह विनाशक

कार्यको प्रकट नहीं करना चाहिये। हां उसको समझाकर पुनः संयममें धारण करना चाहिये।

दोषोंके प्रकट करनेसे धर्मकी हंसीके सिवाय द्वेष-ईर्षा प्रपंच बढते हैं, धर्माचरणसे अप्रीति हो जाती है जो अज्ञानकी कारण है।

निंदाजनक कार्य एक व्यक्तिने किया है उसका फल वह व्यक्ति अवश्य भोगेगा। परंतु उसके आश्रयसे निर्दोष धर्मका मिथ्यापवाद करना, असत्य लांछन लगाकर जनताके समक्ष अविश्वासका कारण उत्पन्न कर देना, आत्मबल अशक्ति प्रकट करना है। सदाचार और उत्तम धर्मकी निंदा करनेसे आत्मलाभ तो होता नहीं, किंतु अपनी अज्ञता अवश्य प्रकट होती है ॥ १७ ॥

सन्मार्ग पद्धति-व्यवहार पद्धतिपर निर्भर है। चाहे गृहस्थ धर्म हो या मुनि धर्म, परंतु सबका सन्मार्ग उनके बाह्य आचरणोंपर स्थिर रहता है। आचरणोंकी पवित्रता ही धर्म है, बाह्य वृत्ति आभ्यंतर वृत्तिको स्थिर और अनुगामी रखती है। विशेषकर जिनका निरंतर सहवास आत्माके साथ है, ऐसे आचार, खानपान, हिंसादि कर्म, बुरा व्यवहार, और परिणामोंको बिगाडनेवाले बुरे कर्तव्य ये सब आत्माकी आभ्यंतर वृत्तिमें जहरा असर उत्पन्नकर मलिन अवस्था प्राप्त करते हैं, इस लिये बाह्य सदाचारसे धर्म रक्षा करनी चाहिये। चोरी, कुशील, हिंसादि अशुद्ध व्यापार छोड देना चाहिये। ऐसे अनेक कार्य हैं जिनसे सच्चे धर्ममें वट्टा लगता है। वे सब व्यक्तिगत अथवा समाजगत न होकर एक समय उस धर्मकी मान्यतामें बाधक होते हैं, उसकी उत्कृष्टता नष्ट करते हैं इस लिये सन्मार्गमें आनेवाले विघ्नोंको आत्म

शक्तिद्वारा दूर करना चाहिये ।

किसी समय धर्मकी सन्मार्गता धर्म तत्वकी अनभिज्ञतासे नष्ट होती है । यह सिद्धान्त है कि सदाचारसे धर्मकी उत्कृष्टता समझी जाती है । सदाचार आत्म तत्वसे संबंधित है । जबतक आत्माको नहीं पहिचाना जाता तब तक वास्तविक सदाचार नहीं पलता । आत्म तत्वकी अनभिज्ञतासे बहुतसे मनुष्य सन्मार्गकी उत्तमता मिथ्यावादोंसे नष्ट करना चाहते हैं उसको दूर करना ही उपगूहनता है । [illegible] ऐसे कार्योंसे प्रवर्त रहेगा यही अपना कर्तव्य है ।

सन्मार्गका प्रदर्शन जगतके समक्ष धर्मभावनाकी उज्वलता, सर्वोत्कृष्टता रखनेसे होता है । सन्मार्गके प्रवर्तनसे ही धर्म स्थिर रह सक्ता है इस लिये धर्मको पवित्र रखनेमें ही सन्मार्गकी प्रवृत्ति है । धर्मकी व्यापकता उसकी पवित्रता एवं उत्कृष्टतामें है और वह उसमें आये हुए मिथ्याप्रवादोंको दूर करनेसे होती है ।

यद्यपि जैन धर्मकी पवित्रता और सर्वोत्कृष्टता उसके वर्णित सदाचारसे स्वतः सिद्ध है, पवित्र और उत्कृष्ट वस्तु कठिनतासे प्राप्त होती है उत्तम वस्तुओंका संयोग दुर्लभ है तथापि उसकी व्यापकता जनसमुदाय कुछ आधार रखती है। इस लिये जनताके समक्ष अपने अपवादसे, अज्ञानसे, स्वार्थसे और अपनी आत्माके दुरुपयोगसे मिथ्यापवाद उस पवित्र धर्मपर न लगे यह प्रत्येक धर्मात्माको विचार रखना चाहिये इस लिये ही धर्म पवित्र रह सक्ता है इतना ही नहीं किन्तु ऐसे धर्मनिंदकोंको अच्छी तरह समझाना चाहिये ।

इस अंगको जिनेन्द्रभक्त नामक महापुरुषने पालन किया था उसका चरित्र यह है—

जिनेन्द्रभक्त सेठकी कथा।

ताम्रलिप्त नगरीमें जिनेन्द्रभक्त नामक प्रसिद्ध परम धर्मात्मा सेठ थे। इनका वैभव कुबेरको भी लज्जायमान करता था। नीति, विनय आदि गुणोंसे सेठ जगतमान्य और सर्वोच्च थे। इनकी कीर्ति समस्त संसारमें व्याप्त हो रही थी।

सेठ साहबके घरपर एक चैत्यालय था, वह सुवर्ण, मणि, मोती आदि रत्नोंसे चित्रित था। संसारमें यह चैत्यालय अद्वितीय और परम सुंदर था। गर्भग्रहकी रचना अपूर्व थी। अष्ट प्रातिहार्य अनुपम शोभा दे रहे थे। श्री जिनदेवके ऊपर तीन छत्र अमूल्य थे, अनेक मणियोंसे गुम्फित, परम दिव्य थे। उनमें एक मणी ऐसी थी कि जिसका मूल्य अंकित नहीं हो सक्ता था। वे सेठ निरन्तर भगवानकी पूजा और शास्त्र स्वाध्यायादि धर्मकृत्योंसे अपना जीवन परम शांतिसे व्यतीत करते थे।

एक समय पाटलपुरके राजकुमारने इस मणीकी महिमा सुनी और उसको लानेके लिये सूर्यकुमार नामक चोरको आज्ञा दी। चोर अन्य प्रकारसे मणी लानेमें असमर्थ हो क्षुल्लकका भेष धारणकर, ताम्रलिप्त नगरीमें कायक्लेश जनित तप करता हुआ जनताका मन अपनी तरफ आकर्षित करने लगा। बाह्यभेष और बाह्य मुद्रा क्षुल्लकके समान होनेसे जनताने उसका सन्मान यथोचित किया।

इसी समय जिनेन्द्रभक्त सेठ व्यापारार्थ विदेश जानेके लिये उत्सुक हुए, परन्तु जिन मंदिरकी रक्षा किसके हाथ करना-

चाहिये इस विचारमें थे कि अकस्मात् यह ध्यानमें आया कि क्षुल्लकको इस कार्यका भार सौंपना चाहिये। इसीलिये क्षुल्लकको अपने घरपर बड़े प्रेमसे बुलाकर प्रार्थना की कि हे प्रभो! आप थोड़ेसे समय पर्यन्त इस चैत्यालयकी रक्षा करें। चोर रूप क्षुल्लकने प्रथम ऊपरसे तो अपनी महत्वता बतलानेके लिये अस्वीकार किया किन्तु मनमें अतिशय हर्ष हुआ। पुनः अधिक आग्रहसे स्वीकार कर लिया। दिवस व्यतीत होते हुए वह मणी चोरने चुरा ली और वहासे भागा। मणीकी द्युति चोरके हाथमें छिपी नहीं। अतएव कोतवालने उसको पकडना चाहा। चोर भागकर सेठकी शरण हुआ। सेठने अपने मनमें विचार किया कि यह यथार्थमें चोर है और इसने यथार्थमें बुरा कार्य किया है, यह अवश्य दण्डका पात्र है तो भी यह इस समय क्षुल्लक भेषमें है। यदि मैं इसको इस समय कोतवालके आधीन करता हूं तो अवश्य ही सब लोग यह [illegible] इस प्रकार [illegible] होते होंगे, इस प्रकार [illegible] वह कहने लगे, [illegible] ! तुमने बडा [illegible] और वह [illegible]। ये तो समस्त पापोंसे [illegible] हैं और वह [illegible] ही इनसे [illegible] और चोरको [illegible] की, महान् [illegible] और मणी लेकर वहांसे [illegible]।

[illegible] सेठने जैन धर्मकी मिथ्या निन्दाको [illegible] इस प्रकार धर्मकी मिथ्या निन्दाके [illegible] और धर्मकी रक्षा की।

शचि
नष्ट ह
समझी
आत्म
पलता
उत्तम
अपगूह
अपना
सर्वोत्
रह स
प्रवृत्ति
और व
सदाचा
ग्रहण
व्याप
समक्ष
दुरुपयो
धर्मान्
सत्ता
समझा

छिपाना उपगूहन अंग है।

अस्थिरीकरण–सन्मार्ग पर चलना अति विषम काम है। संसारमें सब जीव एकसे नहीं होते। कोई सन्मार्गमें दृढतासे चलता है, तो कोई शिथिल भी होजाता है, ऐसे मनुष्योंको अपने पास शक्ति और सर्व साधन होनेपर भी फिर उसको सन्मार्गमें नहीं लगाना, उसकी सहायता नहीं करना, उनको उत्साह नहीं देना ही अस्थिरीकरण है।

संसारमें मोह और अज्ञानताकी फांसी विकराल है। कितने ही मनुष्य अज्ञानताके लिये सन्मार्गको जानते ही नहीं हैं। कदाचित सत्संसर्गसे उनको सन्मार्गका बोध होजाय तो उसमें चलनेके लिये भयभीत होते हैं, सन्मार्गगामी बनकर अनेकवार भूल जाते हैं विशुद्ध मार्गसे च्युत होजाते हैं, उत्साहहीन होजाते हैं, शिथिल होजाते हैं।

मोहके प्रबल उदयसे तो सन्मार्ग ही विकट लगता है, सदाचार दुर्द्धर मालुम होता है। कदाचित किसी शुभ निमित्तसे सन्मार्गकी प्राप्ति हो जाय तो व्यामोहसे वह शीघ्र शिथिल हो जाता है। एक तो जीवोंकी अशुभ प्रवृत्ति चिरकालसे स्वयमेव हो रही है इसलिये असदाचारमें विना शिक्षा प्राप्त किये हुए भी स्वभावसे ही प्रवृत्ति होती है, सन्मार्ग प्रवृत्ति कठिन मालुम होती है, बार २ प्रयत्न करने पर भी व्यामोहसे पुनः पुनः उससे रहित होजाता है, ऐसे समय सन्मार्गसे गिरते हुए मनुष्योंको जरासा सहारा देनेसे पुनः सन्मार्गगामी बनाना है। व्याधिकी कठिन वेदनासे रोगी मरणको अच्छा समझता है, और

कुछ आश्रय नहीं मिलनेसे अतिशय दुःखी और मरणके लिये आतुर होजाता है ऐसे समय यदि अच्छे वैद्यका थोडासा सहारा मिल जाय तो उसको कितनी शांति मिलती है ? उसके हृदयमें पुनः आशा संचार होने लगती है, ठीक इसी प्रकार संयमकी कठिन प्रवृत्तिसे, सदाचार पालन करनेमें होनेवाले विकट दुःख और कठिन व्रत उपवास आदि कार्योंसे आत्म धर्म धारण करनेमें आनेवाले विकट उपसर्ग, शारीरिक कष्ट और लोभ मोह आदि कारणोंसे यह जीव धर्मको छोड देना चाहता है, उससे भयभीत होना चाहता है, शुभ प्रवृत्तियां कठिन और दुःखकर प्रतीत होने लगती हैं, ऐसे समय ज्ञानकी सहायता, मधुर धर्म स्नेहकी सहायता, धर्मानुरागसे विशुद्ध अन्तःकरणका उत्साह मनुष्योंको पुनः धर्माचरणमें—सन्मार्गमें स्थिरकर देता है। सन्मार्ग चलनेकी अपेक्षा दूसरोंकी पतित वस्थामें सहायक होना भी उत्तम कार्य है।

ऐसे अगणित मनुष्य हैं जो कामादि विकार, दुरी संगति और कुत्सित शिक्षणके कारणसे सन्मार्गसे च्युत होजाते हैं ऐसे मनुष्योंको थोडीसी हार्दिक सहानुभूति, और सच्चे ज्ञानकी थोडीसी उत्तेजना महान कार्य करती है।

सत्कार्योंका विस्तार, जन समुदायके हितार्थ है। उनके लिये कुछ करना मानव जीवनका कर्तव्य है। सत्कार्योंका विकाश दूसरोंकी सहायतासे होता है। यदि दूसरोंके आत्म विकाशमें—सत्कार्योंमें [illegible] है, सहानुभूति नहीं है, तो वास्तविक धर्म प्रेम भी नहीं है।

सन्मार्गानुगामी होनेमें जो स्वयं संकुचित हैं, पतनको पवित

अवस्थामें जो अनुत्साही हैं, धर्मसे च्युत होते हुए मनुष्योंको जो मनुष्य शक्ति और साधन होनेपर भी अनुदार हैं वे मनुष्य वास्तविक धर्महीन हैं। इसलिये धर्मके कार्योंमें सहायक होना, धर्मसे गिरते हुए मनुष्योंको पुनः धर्ममें स्थिर करना, धर्मकी रक्षाके लिये अपनी शक्तिका उपयोग करना, और अधिकाधिक मनुष्योंको धर्म मार्गपर लगाना ही धर्मधारण करना है।

स्वच्छन्दता, स्वार्थ और अल्पज्ञता मनुष्योंको धर्मसे च्युत कराती है, परिणामोंमें धर्म भावनाका महात्म्य कम करती है, मानसिक वृत्तियोंमें धर्म ग्रन्थोंका अनुराग अल्प होता है, धर्माधर्म सब समान प्रतिभासने लगते हैं। वर्तमान समयमें उक्त तीनों कारणोंसे कुछ लोगोंमें धर्मवृत्ति शिथिल होगई है उनको धर्मानुरागसे पुनः स्थिर करना चाहिये।

अल्पज्ञता-सबसे अधिक दुःखदायक है। अल्पज्ञतासे तत्व परीक्षा नहीं हो सकी, तत्वज्ञानकी उत्कृष्टताका ज्ञान नहीं होता, तत्वोंकी नियामकता समझमें नहीं आती इतना ही नहिं किंतु अल्पज्ञता अभिमान, पक्षपात और कुतर्कसे परिपूर्ण होती है। तत्वमीमांसाके लिये सरल परिणाम और अधिक ज्ञानकी आवश्यकता है। संसारमें अज्ञानी अथवा ज्ञानी ये दोनों विशुद्ध भाव होनेसे कल्याणके पात्र होते हैं परंतु अल्पज्ञता तो सब गुणोंको नष्टकर विचारशून्य बना देती है, उन्मत्त और कलुषित हृदयी बना देती है इसलिये ऐसे जीव कठिन प्रयत्न करनेपर अपनी अहंकारता नहीं छोड़ते। इनकी धर्म बुद्धि नष्ट होजाती है, सदाचार विष समान लगता है, मनोकल्पना ही इनका साम्रा-

ज्य होता है ऐसे दुष्ट हृदयके मलिन मनुष्योंके सहवाससे यदि कोई भाई धर्म धारण करनेमें शिथिल होता हो तो उसको ज्ञान देकर, सन्मार्गका शुभ फल बतलाकर; और नीतिका यथार्थ अर्थ समझाकर पुनः धर्ममें स्थिर करना चाहिये। क्योंकि धर्म धर्मात्मा पुरुषोंके आधीन है। यदि धर्मात्मा जनोंके हृदयसे धर्मका विश्वास उठ गया तो धर्मका अभाव हो जायगा। इसलिये दूसरोंको धर्ममें स्थिर करना भी धर्मपालन करना है। और धर्मसे च्युत करना धर्मसे गिरते हुएको शक्ति होनेपर सहायता न देना अधर्म सेवन करना है।

दर्शन ज्ञान और चारित्रसे शिथिल मनुष्योंकी उपेक्षा करना अस्थिरीकरण है।

धर्म और संघकी वृद्धिके लिये धर्मसे चलायमान पुरुषोंकी सहायता करना स्थिरिकरण अंग है। इस अंगको वारिषेण महाराजने पालन किया था, उनका चारित्र यह है—

राजा वारिषेणकी कथा।

मगधदेश राजग्रह नगरमें न्यायपरायण, और जिनभक्त श्रेणिक महाराज राज्य करते थे। श्रेणिक महाराजके **वारिषेण** नामका पुत्र था। वारिषेण नीति, बुद्धि, पराक्रम, और क्षमादि गुणोंमें सर्वोच्च था बड़ी २ विकट समस्याओंको वह क्षणमात्रमें निर्णय कर देता था, वह परम धार्मिक भी था।

एक समय चतुर्दशीके दिन प्रोषध धारणकर श्मशान भूमिमें ध्यान लगाकर वारिषेण कायोत्सर्ग स्थित थे, उसी दिवस मदनसुंदरी वेश्याने श्रीकीर्ति सेठके गलेमें एक भव्य हार देखा, जिस

को देखते ही वह मोहित होकर यह विचार करती भई, कि जब तक मुझे यह हार न मिलेगा तबतक मैं आहार पानी नहीं ग्रहण करूंगी।

रात्रिके समय उस वेश्याका प्रियतम विद्युत नामका चोर उसके पास आया और अपनी प्यारी वेश्याकी इस अवस्थाका कारण पूछने लगा। वेश्याने हारका सब वृतांत सविस्तर कह सुनाया और यह भी कहा कि यदि वह हार नहीं मिला तो मैं अवश्य मर जाऊंगी। वेश्याकी इस दृढ हठको देखकर वह चोर सेठके घरसे हार चोराकर ले लाया, परन्तु हारकी कांति कोतवालको ज्ञात होनेसे कोतवालने चोरका पीछा किया, चोर बदमाश था, हारको वारिषेणके आगे रखकर अंतरित होगया।

कोतवालने वारिषेणके पास हारको पाकर वारिषेणको ही चोर समझा और महाराज समक्ष हारके चुरानेका अभियोग वारिषेणपर चलाया। श्रेणिक महाराज नीतिपरायण थे, इसलिये अपने निर्दोष पुत्रको भी दंडित किया और शिर छेदकी आज्ञा दी।

राजसेवकोंने वारिषेणके ऊपर खड्ग चलाया, परन्तु धर्मके प्रभावसे वह खड्ग पुष्पोंकी माल होगई। यह विचित्र कौतुक देखकर समस्त जन वारिषेणकी निर्दोषता प्रत्यक्ष जानने भये। महाराज श्रेणिक भी अपनी अज्ञतापर क्षमा मागने लगे और घर पर चलनेके लिये वारिषेणसे विशेष आग्रह किया, परन्तु वारिषेण इतना ही कहकर निवृत्त हुए कि अब मैं संसारके दृश्योंसे तृप्त होगया हूं, अब मैं पाणिपात्र आहार करना चाहता हूं, ऐसा कहकर भगवती जिनदीक्षाको स्वीकार करने भये।

एक समय वारिषेण मुनि आहारार्थ पलाशकूट नामक ग्राममें पुष्पडालके घर पर गये। पुष्पडाल राजा श्रेणिकके पुरोहितका पुत्र था, इसलिये वारिषेणका बालसखा और समवयस्क था। वारिषेण आहार लेकर उद्यानकी तरफ विहार करनेके लिये चले तो साथमें पुष्पडाल उनको पहुचानेके लिये गया। ग्रामके बाहर जानेपर पुष्पडालने वापिस घर आनेका विचार किया परन्तु वारिषेण राजकुमार और बालमित्र होनेके कारण विना आज्ञाके वापिस लौटना अनुचित है ऐसा विचारकर अनेक समस्यायें कीं, तो भी मुनि महाराज हा अथवा ना कुछ भी प्रत्युत्तर दिये विना ही मौन सहित चलने लगे। लाचार हो पुष्पडाल भी उद्यान तक गया। वहापर पहुचते ही धर्मका विशेष स्वरूप श्रवण करने पर उसने भी दीक्षा ले ली। और १२ वर्ष पर्यन्त परम तप किया। सब कुछ होनेपर भी वह अपनी स्त्री सोमिलाको नहीं भूला।

एक समय ये पुष्पडाल मुनि महावीर भगवानके समोसरणमें गये, वहापर देवोंकर गाये हुए एक गीतको श्रवणकर उसका मन चारित्रसे चलायमान होगया, और सोमिलाका स्मरण हो आया। पुष्पडालके इस अभिप्रायको वारिषेण समझ गये, इसलिये उनको साथ लेकर एक दिवस वे निज राजमंदिरकी तरफ गये।

वारिषेणकी माताने उभय मुनिको असमय आते हुए देख, मनमें यह विचार किया कि कहीं मेरा पुत्र मुनिधर्मसे भ्रष्ट तो नहीं होगया? ऐसा विचार करते ही उनको परीक्षार्थ सराग और वीतराग ऐसे दो प्रकारके आसन बिछा दिये। उभय मुनि वीतराग आसनपर विराजमान हुए तब माताका सदेह निवृत्त हुआ।

वारिषेणने पुष्पडाल मुनिको उद्देश कर कहा कि हे मात! यह मेरा राज्य और अंतःपुरका साम्राज्य सब इन पुष्पडालको दे दीजिये। यह श्रवण करते ही पुष्पडालकी आत्मामें दिव्य ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने विचारा कि धिक्कार है मुझे जो मैं इस तुच्छ वस्तुका मोह करता हूं। ये मेरे गुरुदेव इतनी विभूति, और अप्सराओंसे भी परम सुंदर रानियोंका बिलकुल मोह नहीं करते जब कि मैं अपनी कुरूप स्त्रीके झूंठे व्यामोहमें व्यर्थ फंसा हूं।

इस प्रकारके विचारसे वह अत्यन्त लज्जित हुआ। इतना ही नहीं किन्तु उसको यह भी बोध हुआ कि मेरी आत्मा इन सबसे भिन्न है, शुद्ध ज्ञान दर्शनमयी है, आजतक मैं आत्म स्वरूपको नहीं जान सका। यह मोह ही दुःखकारक और आत्म स्वरूपसे भुलानेवाला है।

थोडेसे समय बाद वह अति विनीत भाव और उत्कट वैराग भावसे कहने लगा कि प्रभो! क्षमा कीजिये, मैं अब आत्म स्वरूपको अच्छी तरह समझ गया, मोहसे मै अब निवृत्त हुआ।

इस प्रकार वारिषेण मुनिराजने चारित्रसे भ्रष्ट होते हुए पुष्पडाल मुनिको पुनः सदाचारमें स्थित किया। सचमुच संसारमें निस्पृहवृत्तिसे जीवोंको सन्मार्गमें लगाना सर्वोच्च और महत्वका कार्य है। आभ्यंतर वृत्तिके विशुद्ध होनेसे सदाचार भी विशुद्ध होता है। अभ्यंतर वृत्ति नि[illegible] होना होती है। मनकी पवित्रताका नाश विकारोंके उत्पन्न होनेसे, कुत्सित विचार होनेसे होता है। इसलिये जीवोंके कुत्सित विचारोंको ज्ञान द्वारा समझा देनेसे सदाचारमें वृद्धि होती है और धर्मके [illegible] होता है [illegible]

स्वात्माभिमानसे सदाचारियोंको तुच्छ और घृणाकी दृष्टिसे देखना, और गुणीजनोंकी अवज्ञा करना, अविनय करना इत्यादि सर्व अवात्सल्यता है।

धर्मकी वृद्धि होनेमें अवात्सल्यता पूर्ण घातक है। धर्मकी वृद्धि धर्मात्माजनोंकी वृद्धि होनेसे होती है। यदि धर्मात्मा पुरुषोंकी उन्नति देखकर क्षोभ होता हो, द्वेष होता हो, तो अवश्य ही अवात्सल्यता है यही नहीं किंतु सदाचारकी वृद्धिको रोकना, सच्चे धर्मके विशुद्ध गुणोंमें दूषण लगाना, मिथ्यापवाद लगाना भी अवात्सल्यता है।

धर्मपद्धतिमें मायाचारसे रहना, जनताको 'अमुक पद्धतिमें मैं हूं' केवल यही दिखानेके लिये अपना भेष वैसा रखना, स्वार्थ और कपट भावसे धर्म धारण करना, आदि सब अवात्सल्यता है।

व्यवहार धर्म–मुख्य धर्मका कारण है। व्यवहार चारित्र भी मुख्य चारित्रका कारण है। व्यवहार धर्मका लोप करना धर्मका ही लोप करना है। बाह्य सदाचारकी अमान्यता सदाचारकी अमान्यता है। इसलिये व्यवहार धर्म और बाह्य सदाचारताकी वृद्धिमें हानि पहुंचाना धर्मकी हानि पहुंचाना है और वही अवात्सल्यता है।

व्यवहार धर्म और बाह्य सदाचार वर्णव्यवस्था, गृहस्थ चारित्र और आचार विचार आदिके पालन करनेसे होता है। यदि उसकी हानि की जाय तो सदाचार और धर्मकी हानि करना है। और ये सब धर्म प्रेमसे बाह्य हैं इसलिये इसको अवात्सल्यता कहते हैं ॥४१॥

धर्मके अंग अथवा कारण अनेक हैं, परन्तु सबसे मुख्य

वृद्धिका कारण वात्सल्य भाव है और वह आत्मीक विशुद्ध प्रेमसे होता है। विना इसके आत्मधर्म भी विकशित नहीं होता, गुणानुराग नहीं होता मानव कर्तव्योंकी पूर्ति नहीं होती। गुणोंका अभ्युदय, धर्मानुराग और समस्त जीवोंसे बंधुत्वभाव वात्सल्य धर्मसे होता है।

सदाचारी मनुष्योंका हृदय अन्य धर्मात्मा पुरुषोंको देखते ही आनंदसे भरजाता है। विशुद्ध प्रेमका प्रादुर्भाव होना, जीव मात्र पर दया करना, सच्चे धर्मकी वृद्धि करना, आत्मीक गुणोंका विकाश करना और परोपकारमें मग्न रहना वात्सल्यताका बाह्य फल है।

वात्सल्य भाव आत्मीक प्रेमका बीज है अथवा विशुद्ध आत्मीक प्रेमसे वात्सल्यभाव होता है। इसलिये आत्मीक गुणोंकी जितनी वृद्धि होगी, वात्सल्यभाव भी उतना ही आत्मामें बढेगा और वह विश्वव्यापी प्रेमसे जीव मात्रके गुणोंकी वृद्धि चाहेगा। आत्मीक प्रेममें वह शक्ति है कि जाति (स्वाभाविक वैर) विरोध उसके सामने स्वयमेव नष्ट होजाता है और साम्यभाव उत्पन्न होता है जिससे समस्त जीव उसको अपना उपकारी समझने लगते है। वात्सल्य भाव धारण करनेवाले मनुष्योंकी आत्मा इतनी सरल और शात होजाती है, कि दुष्ट बुद्धि उनके पवित्र हृदयमें जागृत नही होती, जिससे स्वार्थ और मायाचार उनके समीप फटकने नही पाता है। सन्मार्गकी वृद्धि करना ही उनका दैनिक कर्तव्य और आत्मधर्म होजाता है, वे दुःखी जीवोंको देख नही सके, अज्ञानी और दुःखी जीवोंपर वे अपार दया दिखलाते हैं, जीवोंको कुमार्गसे छुडाना और सन्मार्गमे लगाना वे इस हीमें आनंद मानते

हैं, उनको सच्चे धर्म, सच्चे शास्त्र और सच्चे सुखकी वृद्धि बहुत प्यारी लगती है, इसी लिये वे उनको तथा उनके धारकोंको देखते ही सर्वोत्कृष्ट गुणोंके अनुरागसे प्रेम करते है, सन्मान करते हैं, और विशुद्ध भावसे उनकी वृद्धि चाहते हैं। आत्मीक आल्हादको प्रकट करना वात्सल्यका फल है।

सच्चे और उत्तम गुणोंकी भावना भी वात्सल्य भाव हैं, दूसरोंकि सर्वोत्तम गुणोंकी आकांक्षा प्रेमसे होती है इसलिये धर्मात्मा आत्मधर्मको त्याग नहीं करते हैं।

धार्मिक प्रेमसे केवल वात्सल्यभाव नहीं होता, किन्तु आत्मोन्नति, सदाचार वृद्धि और आत्म गुणोंका विकाश भी होता है। हृदयकी विशुद्धता धार्मिक प्रेम विना नहीं होसक्ती। आत्म गुणोंके विकाश होनेके उच्चतर भाव धार्मिक प्रेम विना नहीं होसकेंगे अथवा आत्माका पूर्ण विकाश, परमात्मा होनेकी योग्यता और धार्मिक प्रेम वात्सल्य अगसे प्राप्त होता है।

धार्मिक प्रेमसे रागद्वेषकी कलुषित भावना नष्ट होजाती है। जिससे वह अनिष्ट सयोग होनेसे द्वेष नहीं करता है, किंतु सरल और निष्कपट भावोंसे विशुद्ध प्रेम पूर्वक आत्म कर्तव्योंको नियमित करता है। आभ्यतरवृत्ति वात्सल्यभावसे पवित्र होती है इसलिये सदाचार भावना अति दृढ और पवित्र होती है।

इतना ही नहीं किंतु वात्सल्यभावसे परम शांति और अपरिमित आत्मीक आनद प्रकट होता है दयाका श्रोत बहने लगता है, साम्य अवस्था परमप्रिय होती है। गुणोंमें अनुराग होनेसे भक्ति भावना सदैव जागृत रहती है। सदाचार और सन्मार्गका

अनुकरण ही ध्येय होता है, सत्कर्म ही लक्ष्मूत होते हैं, ईर्षा, कलहसे ग्लानि होती है।

वात्सल्यभावसे आत्मवृत्ति जब तक पूर्ण नहीं होती है तबतक यह आत्मा सन्मार्गकी रक्षा करनेमें असमर्थ होता है, अचिन्त्य शक्तिहीन रहता है इसलिये वात्सल्य अगसे धर्मरक्षा होती है।

वात्सल्य अग विष्णुकुमार मुनिने पालन किया था उनका चरित्र यह है—

विष्णुकुमार मुनिकी कथा।

उज्जैन शहरमें सुधर्म नामका राजा था और उनके बलि, बृहस्पति आदि चार मंत्री थे।

एक समय अकंपनाचार्य सातसौ मुनियोंके संघ सहित वहां पर आये और नगर बाहर क्षिप्रा नदीके तीर विराजमान हुए। नगरमें इनके आनेसे विविध उत्सव होने लगे। अगणित साधर्मी भाई अष्टद्रव्य लेकर उनकी पूजाके लिये महोत्सवके साथ गये। जनताके इस धर्मोत्सवको राजाने देखा और मन्त्रियोंसे इसका कारण पूछा। मन्त्रियोंने दिव्य ज्ञानधारी मुनियोंके सघके समाचार कह सुनाये और यह भी कहा कि समस्त नगर उनको वदनाके लिये जा रहा है और इसी बातका यह उत्सव है। यह सुनकर मंत्रियों सहित राजा भी वंदनाके लिये वहा गये।

उज्जैन आते ही आचार्यने समस्त सघको यह आज्ञा दी थी कि यहांपर कोई भी मुनि किसीसे संवाद अथवा बातचीत न करें, नहीं तो समस्त सघकी हानि होगी इसलिये समस्त मुनिवर मौन सहित ध्यानमें मग्न होगये। परन्तु श्रुतसागर नामके मुनि चर्यार्थ

(आहारार्थ) शहरमें गये थे अतएव वे इस आज्ञाको नहीं सुन सके।

राजा और मंत्रियोंने प्रत्येक मुनिकी वंदना की, परन्तु किसीने आशीर्वाद नहीं दिया। यह देखकर मंत्रियोंने कहा कि ये कैसे गर्विष्ट हैं जो राजाकी वंदना करनेपर भी कुछ आशीर्वाद नहीं देते। इस प्रकार वे समस्त मुनियोंकी झूंठी निंदा करते हुए शहरको वापिस जाने लगे। मार्गमें जाते समय श्रुतसागर मुनि मिले, उनको देखते ही उक्त मूर्ख मंत्रियोंने उनकी भी हंसी की और जैन धर्मकी निंदासूचक मिथ्या आक्षेप कहे। इतना ही नहीं किन्तु उन मंत्रियोंने श्रुतसागर मुनिवरसे विवाद ठान दिया, सूर्यके समक्ष खद्योतोंका कितना प्रकाश? दिव्यज्ञानधारी श्रुतसागर मुनिके सामने वे क्या तत्व निरूपणा कर सक्ते थे, अतएव वे अवाक् होगये। जिससे वे क्रोधसे पूर्ण होगये, परन्तु साथमें राजा सा० थे अतएव विवश हो कुछ अनिष्ट नहीं कर सके।

श्रुतसागर मुनिवरने यह समाचार आचार्यसे कहे तो उनने कहा कि संघाष्टक पर भयानक उपसर्ग उपस्थित कर दिया। अब इसका यही प्रतीकार है कि जहांपर तुमसे विवाद हुआ वहांपर ही ध्यानसे मग्न होकर स्थिर होजाओ। श्रुतसागर मुनिने वैसा ही किया।

रात्रिको वे चारों मंत्रिगण राजाके समक्ष अपमानित होनेके कारण विशेष क्रोधित हो समस्त मुनिसंघको मारनेके लिये चले। मार्गमें श्रुतसागर मुनिको देखकर सबने कहा कि इनने ही हमको अपमानित किया है प्रथम इनको ही मारो ऐसा कह उन चारोंने ही अपनी२ तलवार निकालकर एक साथ वार करनेको अपने२ हाथ उठाये।

निर्दोष मुनिके दिव्य तपके प्रभावसे यक्ष देव तत्काल ही वहां प्रकट हुआ और उन चारों मंत्रियोंको अपनी शक्तिसे कील दिया जिससे वे चारों ही जैसेके तैसे ही कीलित रह गये।

प्रातःकाल होते ही समस्त नगर इस विलक्षण कौतुकको देखने आया, स्वयं महाराज भी वहांपर आये और मंत्रियोंके दुष्ट कर्मका दण्ड देश निकाला देकर घोर उपसर्ग निवारण किया।

राजा और प्रजामें इस चमत्कारसे जैनधर्मकी महिमा पूर्ण रूपसे ज्ञात होगई इसलिये सबने जैन धर्मको स्वीकार किया।

दुष्ट बलि आदि चारों मंत्री हस्तनापुर गये। उस समय वहांका राज्य महापद्म नामके महाराज करते थे। विष्णुकुमार और महापद्म ये भाई थे। विष्णुकुमार दीक्षा लेकर घोर तप आचरण करते भये जिससे उनको अनेक सिद्धियें प्राप्त हुईं—विक्रियाऋद्धि प्राप्त हुई।

दोनों ही भाई परम धर्मात्मा थे। महापद्म यद्यपि एक महान राज्यके स्वामी थे तो भी वे निःशंक नहीं थे। उनको सिंहबल नामक राजाका निरंतर भय बना रहता था। उन चारों मंत्रियोंने जाकर किसी प्रकार सिंहबलको वशकर महापद्म महाराजको निर्भय किया इससे महाराजने प्रसन्न होकर वर प्रदान किया। परन्तु आवश्यक समयपर दीजिये, ऐसा कहकर महाराजको वचनबद्ध रखा।

कुछ समय बाद दैवयोगसे उन सातसौ मुनियोंका संघ वहांपर विहार करते हुए आया। उनके देखते ही उन चारों दुष्ट मंत्रियोंको अपमानका स्मरण होगया और उसका बदला लेनेके लिये यह निश्चय किया कि महाराजसे वह अपना वर लिया जाय, क्योंकि महाराजके

शासनमें कुछ नहीं हो सकेगा, ऐसा विचार कर सात दिनके राज्य शासनके वरकी याचना की और महाराजने भी प्रदान किया।

जहांपर समस्त मुनियोंका संघ था वहांपर राज्य मिलते ही घोर उपसर्ग करना प्रारंभ किया। यह बात एक क्षुल्लकके द्वारा मुनि विष्णुकुमारको मालूम हुई तो वे धर्मरक्षार्थ हस्तनापुर गये और वामनका भेष धारणकर बलिराजासे तीन पाद पृथ्वीकी याचना की और बलि महाराजने वह सहर्ष प्रदान की।

विष्णुकुमारने प्रथम पाद अपनी विक्रिया शक्तिके द्वारा मेरु पर्वतपर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वतके समीप इस प्रकार दो पादके धरनेसे ही समस्त नृभूमि पूर्ण होगई। अतएव तृतीय पाद दुष्ट बलि मंत्रीके शिरपर रखा जिससे वह अतिशय लज्जित हुआ। इतना ही नहीं किन्तु उनको सच्चे धर्मका उपदेश दिया जिससे समस्त राजा प्रजा जैनधर्मके परमभक्त हुए। इस महान अतिशय चमत्कारसे धर्मका पूर्ण उद्योत हुआ। धर्मप्रेम समस्त जनतामें जाग्रत हुआ धर्मवृद्धि हुई।

इस प्रकार विष्णुकुमारने केवल धर्म रक्षा ही नहीं की, किन्तु सातसौ मुनियोंके संघपर हार्दिक वात्सल्य भाव प्रदर्शित किया, विशुद्ध प्रेमसे सबकी रक्षा की, निःस्वार्थ वृत्तिसे आत्म समर्पण किया, आत्मीय सहानुभूति दिखलाकर जैनधर्मकी महिमा—उसकी सत्यता सर्वत्र दिखलाई। अतः भी जैनधर्मका विस्तार महान पुण्यका कारण है। इसलिये वात्सल्य भावको हृदयसे पालन करना चाहिये ॥ ४१ ॥

अप्रभावना—धर्म तत्वोंके जाननेमें अज्ञानता रखना, निंद्य

और अशुभ आचरण द्वारा धर्मका अपवाद कराना धर्मकी महिमा बढानेमें संकुचित होना, कठोर और मायाचारी होना, धर्मके कार्यमें स्वार्थ बुद्धि रखना, दान प्रदान करनेकी शक्ति होनेपर भी अनुदार होना, अतिशय मोही होना, पापाचरणमें आसक्त होना, सरल और प्रेमभावसे दया नहीं करना, दुःखी जीवोंपर सहानुभूति नहीं रखना, सच्चे धर्मके धारण करनेमें हतोत्साह होना, धर्मकार्यमें अपनी शक्तिको छिपाना धर्मकी महिमा बढानेमें सहायता नहीं करना, धर्मके मिथ्यापवादोंको शक्ति होनेपर भी दूर नहीं करना, सन्मार्गके विस्तार करनेमें प्रमाद रखना, अपदाचारणसे सच्चे धर्मका अपवाद करना, कुदेव, कुशास्त्र और अज्ञानी पुरुषोंकी विनय करना आदि सब अप्रभावना है।

अज्ञानी और असमर्थ पुरुषोंसे जैनधर्म अथवा उसके धारकोंका अपवाद होता हो, हँसी होती हो, अथवा धर्मकी वृद्धिके कारणोंके ह्रास होनेसे उसकी महनीयतामें कुछ बाधा आती हो, मिथ्यापवादके कारण धर्मका प्रभाव नष्ट होता हो जिससे लोगोंकी धर्म रुचि कम होती हो, अश्रद्धा होती हो, धर्मकी पवित्रता नष्ट होती हो, तो अपनी शक्तिसे उनको दूर करना प्रभावना है। शक्ति और सब साधन होनेपर भी धर्मके प्रभावमें अनुत्साही होना अप्रभावना है।

धन, ज्ञान, और हार्दिक प्रेमसे अपनी शक्तिका सदुपयोग धर्म रक्षार्थ करना धर्मको स्थिर करना है। शारीरिक-मानसिक और आर्थिक शक्तियोंका उपयोग यदि धर्मरक्षार्थ किया जाय तो प्रभावनाके साथ २ आत्म गौरव भी वृद्धिगत होता है।

अज्ञानी पुरुष जिस समय मिथ्यापवादसे सच्चे धर्मको व्यर्थ दूषित करते हैं, कलंकित करते हैं, उस समय प्रत्येक धर्मात्माका प्रथम कर्तव्य है कि जिस प्रकार होसके धर्मकी रक्षा करें। धर्म परीक्षाके समय अपनी शक्तिका छिपाना, कायर वा उत्साहहीन होना, दृढतासे च्युत होकर अविश्वासु होना, कर्तव्यशून्य होकर प्रमादी होना, धर्मकी रक्षार्थ दान नहीं करना अप्रभावना है। उसको दूर करनेसे प्रभावना होती है।

धर्मका महात्म्य, धर्मकी वृद्धि, धर्मकी पवित्रता और धर्मकी महत्वता प्रभावनापर अवलंबित है। इसलिये रथोत्सव द्वारा, मेला वा प्रतिष्ठा द्वारा, जिन महिमा प्रदर्शन द्वारा, शास्त्र विस्तारद्वारा, परोपकार द्वारा और दया द्वारा प्रभावना करनी चाहिये।

धर्मके तत्वोंपर समस्त जीवोंका विश्वास हो, इसलिये जिनागमका विस्तार करना, विद्यापीठ खुलवाना, धार्मिक ग्रन्थोंका दान करना, स्वाध्याय करना, अज्ञानी और मिथ्यादृष्टियोंको सुयुक्ति, सप्रमाण और मीठे वचनोंसे जैन धर्मका गौरव प्रदर्शित करना, आदि सब प्रभावना है।

सदाचारसे पवित्रता प्रकट होती है और धर्म गौरव बढता है। अपना व्यवहार सदैव पवित्र, और सदाचार युक्त रखनेसे धर्मकी प्रभावना होती है। हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापाचरणोंके त्याग करनेसे महान प्रभावना होती है।

जिन पूजन, जिन चैत्यालय पूजन, निर्वाण क्षेत्र पूजन आदि धार्मिक कृत्योंसे भी महान प्रभावना होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके धारकोंकी विनय करनेसे और साधर्मि

भाइयोंके उत्तम गुणोंमें प्रेम करनेसे भी प्रभावना होती है।

धर्म प्रभावनासे मन छिपाना, संयमसे आत्म शक्तियोंका संकोच करना, धर्म भावनामें अनुत्साहित होना, स्वार्थ और भयसे सच्चे धर्मका त्याग कर देना धर्मका पालन आत्म कल्याणके लिये नहीं समझना, विद्या दान करनेमें झिचकना, द्रव्यके दान करनेमें अनुदार होना आदि कार्योंसे प्रभावना नष्ट होती है इतना ही नहीं किंतु आत्मगुणोंका ह्रास होता है. शक्तियोंका संकोच होता है, उत्साह और भक्ति भावना भी नष्ट होजाती है इसलिये धर्म प्रभावनामें सदैव तत्पर रहना चाहिये। धर्म प्रभावनासे धर्मकी तो वृद्धि होती है परन्तु आत्म भावना सुदृढ होती है जिससे आत्मबल बढता है और निस्पृह भावसे धर्मको सिद्धि होती है।

प्रभावना वज्रकुमार महाराजने पालन की थी उनका चारित्र यह है—

राजा वज्रकुमारकी कथा।

मथुरा नगरमें पूतगंध नामके अति विचक्षण एक राजा थे। महाराजकी शीलवान अति धर्मात्मा उरविल्या नामकी रानी थी। उरविल्या जिस प्रकार अति सुन्दर थी उसी प्रकार वह गुणवान थी; संयमसे पवित्र. दयासे पूर्ण, और सम्यक्त सहित थी। वह अपना जीवन धार्मिक कार्योंमें ही व्यतीत करती थी। गृहस्थोंके षट् कर्म वह [illegible] भावसे पालन करती थी। उसका अधिक समय शास्त्र स्वाध्याय और जिन पूजनादि उत्तम कार्योंमें व्यतीत होता था वह स्वभावसे भोली और सरल थी।

उरविल्याके यह नियम था कि नंदीश्वर व्रत (अष्टान्हिक

व्रत), षोडश कारण व्रत और दशलाक्षणिक व्रतादिमें श्री जिने-
न्द्रदेवकी पूजा अति भावभक्ति और पूर्ण उत्साहसे करती थी
एवं जिन धर्मकी प्रभावनाके लिये सदैव रथोत्सव निकाला करती थी।

एक समय महाराजा पूतगंध नगरका अवलोकन करनेके
लिये निकले। मार्गमें दरिद्रा नामकी एक सेठकी सुन्दर कन्याको
देख कामके आधीन होगये और उससे विवाह करना चाहा।
दरिद्राके मातपिताने महाराजको बौद्ध धर्मका भक्त बनाकर कन्या
प्रदान की और महाराजने उसको पटरानी बनाई।

फाल्गुन मासमें नंदीश्वर व्रतका पर्व आया, और उर्विलाने
सदाकी भांति रथोत्सव अति धूमधामसे करना चाहा, परंतु यह
महोत्सव दरिद्रा पटरानीको अच्छा नहीं लगा। इतना नहिं किंतु
उसके मनमें इस प्रकार प्रतिद्वंदी भाव हुए कि बौद्ध धर्मका रथ
प्रथम चलाया जाय, और इस बातकी आज्ञा महाराज पूतगंधसे
ली, क्योंकि महाराजने बौद्ध मत इसी पटरानीके लोभसे स्वीकार
किया था। ऐसा करनेसे जैनधर्मकी हँसी होनेका समय आयेगा,
भोले और अज्ञानी जीवोंको धर्मसे अरुचि होगी—अश्रद्धा होगी,
पवित्र और विश्वव्यापी आत्म धर्मकी व्यापकता नष्ट होगी, इतना
ही नहीं किंतु जैन धर्मका अपमान होगा, कमजोरी प्रगट होगी,
और बौद्ध धर्मकी वृद्धि होगी।

उर्विलाको यह धर्मका अपमान सहन न हुआ। वह यह
विचारकर आत्मनिंदा करने लगी कि हाय! मेरे अभाग्योदयसे
पवित्र और सच्चे धर्मका अपमान हुआ। धिक्कार है मुझको! इस
प्रकार उसको पूर्ण दुःख हुआ, उसने मन ही मन यह प्रतिज्ञा की

कि "जबतक मेरा यह मनोरथ पूर्ण नहीं होगा तबतक मैं अन्न पाणी ग्रहण नहीं करूंगी, इस प्रकार दृढ संकल्पकर वह वज्रकुमार मुनीश्वरकी वंदना निमित्त गई, श्री गुरुकी उपासनाकर उसने समस्त वृत्तांत कह सुनाया और अपनी प्रतिज्ञाका भी वृत्त संक्षेपसे कह दिया, इसको सुनकर वजकुमारके मनमें राजाकी दुर्बुद्धिसे अत्यन्त ग्लानि हुई, और साथमें उसकी अज्ञतापर दया भी आई।

दैव संयोगसे इस समय दिवाकर प्रभृति कई विद्याधर पूज्यवर वज्रकुमार मुनीश्वरकी वंदनाके लिये आये। मुनीश्वरने धर्मका स्वरूप प्रतिपादन किया, और प्रभावना अंगका विशेष विवरण कहा, इतना ही नहीं किन्तु उरविल्याको उद्देशकर जैन धर्मके अपमानका समस्त वृत्त कह, यह आदेश किया कि 'जैन धर्मकी महिमा प्रकाश करो, यह अवसर सर्वोत्तम है।'

मुनीश्वरकी इस आज्ञाको सुनते ही वे विद्याधर मथुरा गये, और जैन धर्मकी सर्वोत्तम प्रभावनाके साथ रथोत्सव सबसे प्रथम चलाया, पुष्प वृष्टि और गंधोदक वृष्टि आकाशसे की, जैन धर्मकी जय, जैन धर्मकी जय, इस प्रकार दिव्य घोष आकाशसे किया, दुंदुभि बाजे बजाये इत्यादि अनेक चमत्कार हुए जिससे धर्मकी महिमा सर्वत्र फैल गई।

इसी समय वजकुमार मुनिवर मथुरा पधारे, और सच्चे धर्मका उपदेश दिया जिसके प्रभावसे राजा प्रजा सबने जैन धर्म स्वीकार किया, व उरविल्याने अर्जिका व्रत लिये। महाराजने विशुद्ध हृदयसे जैन धर्मको ग्रहण किया, सर्वत्र जैन धर्मकी जय जय हुई।

इस प्रकार अपनी शक्तिका उपयोग जैनधर्मकी वृद्धिके लिये करना प्रभावना है। प्रभावनासे धर्म स्थिर रहता है, बढ़ता है, प्रभावित होता है, और प्रमाणित होकर समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाला सिद्ध होता है। इसलिये अपनी शक्तिके अनुसार प्रभावना प्रत्येक धर्मात्मा भाईको करना चाहिये ॥ १३ ॥ १४ ॥

पच्चीस दोष रहित सम्यग्दर्शन विशुद्ध और आठ अंग सहित पूर्ण कहलाता है। दोषोंकी निवृत्ति हुए विना आत्माके आभ्यंतर परिणाम विशुद्ध नहीं होते और न तत्वोंकी धारणा ही दृढ़ होसक्ती है। विशुद्ध सम्यग्दर्शन संसार संततिको छेद सक्ता है, इसलिए सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि प्रत्येक मुमुक्षुको करना चाहिये। जिस प्रकार अक्षर रहित मंत्र फलसिद्धि नहीं कर सक्ता ठीक उसी प्रकार अंग रहित सम्यग्दर्शन भी संसार बंधनको नाश नहीं कर सक्ता। इन आठ गुणोंको अंग इसलिये कहा है कि जैसे मनुष्यके शरीरके आठ मुख्य अंग हैं, और उन अंगोंके समुदायको ही शरीर कहते हैं। जितने अंग कम होंगे उतना ही शरीर अपूर्ण कहलायगा। ठीक इन आठ गुणोंसे आत्मामें सम्यग्दर्शनकी शक्ति उत्पन्न होगई है। अथवा सम्यग्दर्शनका प्रवाह आठ धाराओंमें विभक्त होगया है, सबका मूल एक ही है। इसलिये अंगरहित दर्शन अपूर्ण है—कार्यकारी नहीं है। आठ अंग ही सम्यग्दर्शनका शरीर है। अंगके नाश होनेसे अंगीका भी नाश होजाता है।

इस प्रकार विशुद्ध पूर्ण सम्यग्दर्शन संसारकी परिपाटीको तत्काल ही नष्ट करता है और परमपद (निर्वाण) को प्रदान करता है। सम्यग्दर्शन विना समस्त व्रत, तप, सदाचारादि सब व्यर्थ

हैं। जिस प्रकार मूल विना वृक्ष नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन विना भी ज्ञान चारित्र उत्तम नहीं कहलाते।

वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार है—सराग और वीतराग। सराग सम्यग्दर्शन प्रशमादि गुणोंसे व्यक्त होता है—प्रकट होता है, अर्थात् सराग सम्यग्दर्शनके बाह्य चिह्न प्रशमादि हैं। और आत्म परिणामोंमें अत्यत विशुद्ध, अचिंत्य, आत्म गुणोंको विकाश करनेवाली, परम आल्हादजनक शक्तिका प्रकट होना वीतराग सम्यग्दर्शन है। यह साक्षात् परमात्मपदको प्राप्त करनेवाला है, अनंत सुखका कारण है, परम शांतमय है, नित्य है, अनुपम है, और कर्म बंधनको नाश करनेवाला है एवं परम पवित्र है॥२१॥

प्रशम, संवेग, निर्वेग, निंदा, गर्हणा, भक्ति, आस्तिक्य और अनुकपादि गुणोंसे सम्यग्दर्शन अनुमित होता है—जाना जाता है, बाह्यमें व्यक्त होता है॥ ४६॥

जिस प्रकार शरीरके अंदर आत्मा सुखादिक गुणोंसे व्यक्त होती है अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय और अमूर्त है इसलिये वह दृष्टिगोचर नहीं है। तो भी सुख आदि गुणोंसे उसके अस्तित्वका निश्चय होता है और बाह्यमें यह निश्चय धारणा होती है कि इस शरीरमें अवश्य आत्मा है अन्यथा इसको सुखादिका ज्ञान नहीं होता। ठीक उसी प्रकार सम्यग्दर्शन आत्माका विशुद्ध परिणाम है। आत्मा अमूर्त है सम्यग्दर्शन भी उसी प्रकार अमूर्त है इस जीवमें सम्यग्दर्शन है या नहीं? इसकी पहिचान उक्त गुणोंसे प्रकट होती है। जिस जीवकी बाह्यक्रिया प्रशमादिरूप हो तो समझना चाहिये वह सम्यग्दृष्टी भव्य जीव है। जिस जीवके

बाह्य कारणोंमें (बाह्य व्यवहार, चालचलन, और उसके कार्योंमें) प्रशमतादि नहीं है उसके आभ्यंतर परिणाम भी विशुद्ध नहीं हैं, शांत नहीं हैं, सरल और अनुभाविक नहीं हैं, इसलिये उक्त गुण सम्यग्दर्शनके अभिव्यंजक हैं। अथवा इन गुणोंसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥४७॥

प्रशम-रागद्वेष (क्रोध, मान, माया, लोभ) आदि विकार भावोंका आत्माके परिणामोंमें उपशम होना प्रशमगुण है। कषायोंसे जितनी आत्मा शांत होगी उतनी ही प्रशमादि गुणोंकी वृद्धि होगी। कषायोंसे आत्माकी आभ्यंतरवृत्ति मलिन और कुटिल रहती है जिससे आत्मपरिणामोंकी सरलता और आत्म भावना नष्ट होजाती है। जिस जीवके अनंतानुबन्धी क्रोधादि विकार हैं उसके रागद्वेष भी तीव्र है-वह जीव आत्म स्वरूपको नहीं पहिचान सक्ता, तत्वोंके सत्स्वरूपमें अपनी आत्मभावना स्थिर नहीं रख सक्ता। ऐसे जीवके सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सक्ता। इसलिये सम्यग्दर्शनकी मुख्य पहिचान यह है कि जो परम शांत हो, सरल हो, सदैव प्रसन्न रहता हो और स्वभावसे क्रोधादि विकारोंसे मुक्त हो, वही सम्यग्दृष्टि है।

परिणामोंकी शांततासे समस्त व्रत सुशोभित होते हैं ॥४८॥

संवेग-सदाचरण और उसके फलमें रागभावका होना संवेग है। अथवा धर्म और धर्मके फलमें अनन्य भावसे आसक्त होना संवेग है। संसारी जीव बाल हैं (अज्ञ है) जिस प्रकार बालक कुछ लोभके वश होकर कार्य करता है, ठीक उसी प्रकार

---

१ यद्रागादिदोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणं।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥ १ ॥

निर्वेग—शरीर, संसार और भोगोंसे विरक्त होना निर्वेगता है। यह शरीर जड है, विनाशीक है, अशुचिमय है, कर्मोदयसे प्राप्त हुआ है, इसके संयोगसे यह जीव शारीरिक, मानसिक और आगंतुक दुःखोंको प्राप्त होता है, आधि व्याधि और भयानक वेदनाका अनुभव करता है। यह ऊपरसे स्वप्नके समान मोहक दिखता है परन्तु सर्व दुःखोंकी खानि यह शरीर ही है। इस प्रकारके विचारसे भव्य जीव इस शरीरसे विरक्त होते हैं और सत्कार्य करनेमें अनुरक्त होते हैं।

संसार जन्म मरणके दुःखोंसे परिपूर्ण है और समुद्रके समान अतृष्ण है। इस संसारमें जीवने राजा महाराजा आदि अनत उत्तम भव धारण किये तो भी जन्म मरणका दुःख नहीं मिटा। प्रत्युत जैसे जैसे संसारकी अधिक चाहना की गई दुःख भी वैसे वैसे अधिक बढ़ता गया। संसारमें कुछ भी सार नहीं है, इस प्रकारके विचारसे जीव ससारसे विरक्त होता है और आत्म-भावनामें लीन होता है।

विषय—पांच इन्द्रियोंके विषय मधु-लपेटी तलवारके समान हैं। एक एक इन्द्रियोंके विषयसे यह जीव अपार दुःखको प्राप्त होता है। ये विषय ही संसारबन्धनके कारण हैं इस प्रकारके विचारसे यह जीव विषयोंसे विरक्त होता है। इस प्रकार इनकी विरक्ततासे यह जीव आत्म चिन्तवनमें लवलीन होता है, दुर्धर तप धारण करता है और समस्त मोहको त्यागकर आत्मस्वरूपमें मग्न होता है, जिससे शीघ्र ही परमात्माके पदको प्राप्त होजाता है—संसारमें निर्वेगता ही निर्भयका कारण है॥ ४९॥

निंदा—मन, वचन और शरीरके विकारसे आत्म प्रदेशोंका हलन चलन होता है। जीवोंके समस्त शुभाशुभ कार्य मनवचन और शरीर द्वारा ही होते है इसलिये समस्त कार्योंके कारण मन वचन काय हैं।

समस्त कार्य स्वय किये जाते हैं अथवा दूसरोंसे कराये जाते हैं व कभी किसी कार्यमें अपनी अनुमति भी दी जाती है। इस प्रकार कृत, कारित और आमोदनासे कार्य करनेकी पद्धति तीन प्रकार हैं। आत्मभावोंकी समानता तीन प्रकार हो सकी है।

यदि उक्त कार्योंमें कषायोंका विशेष उदय हो तो बंध भी तीव्र रसात्मक होगा। इन सब बातोंका अभिप्राय मात्र इतना ही है कि ससारमें जीवात्मा एकसौ आठ प्रकारसे कर्म बाध सका है, और उन सब धाराओंमें आत्मपरिणाम एक समान लग सके हैं। इसलिये यह जीव मन, वचन और काय योगसे अनंत प्राणियोंका विध्वंश करता है, चोरी करता है, झूठ बोलता है, कुशील सेवन करता है और अपार तृष्णामें लालायित रहता है, दूसरोंके अहितकी अनेक कल्पनाएँ मनमें सोचता है, अनिष्ट वचन बोलता है शरीरसे अनेक भली बुरी क्रियायें करता है व अनेक पापाचरणोंकी चेष्टा करता है। इन सब कामोंमें जीवात्माके मन वचन काय ही कारण है। राग द्वेषकी प्रवृत्ति भी इनसे ही होती है और अनंत दुःखोंका कारण ऐसा घोर कर्मका बध इनसे ही होता है। जीव अनादिकालसे जन्म मरणका दुःख भोग रहा है उसके भी कारण उक्त मन वचन् काय हैं।

मन वचन कायका चक्र निरतर चलता ही रहता है। ऐसा

कोई समय नहीं है कि इनका कार्य बंद होता हो। इनकी गति अविरोधसे सतत है। सोते जागते, उठते बैठते, चलते फिरते, पढ़ते, खाते पीते प्रत्येक अवस्थामें इनका चक्र चलता ही रहता है। इस चक्रसे जीवात्मा सतत् अनंत कर्मोंका बंध करता है।

जो कार्य जिन कारणकलापोंसे होता है, उन कारणकलापोंका रोक देना कार्यका रोकना है। इसलिये मन वचन और कायकी क्रियायें रोकनी चाहिये और उसके लिये ध्यान, संयम, सामायिक, तप, व्रतादि, उत्तम कार्य करना चाहिये। कदाचित् मन वचन कायके रोकनेकी शक्ति अपनेमें न हो तो मन वचन कायकी प्रेरणासे हुए अशुभ हिंसाजनित कार्योंकी आत्मनिंदा करे।

हाय! हाय! मैंने राग द्वेषके वश हो अनंत जीवोंकी विराधना की, दुष्ट कार्य किये, पापमय व्यापार किया, लोभके वश कुत्सित व्यापारमें अनंत जीव मारे, परस्त्री सेवन की, परिग्रहकी तृष्णामें स्वार्थवृत्तिसे चोरी की. कमती बढती तोला, झूठे लेख लिखे, मायाचारसे अनिष्ट कार्य किये, असदाचरण धारण किया, भक्षाभक्ष पदार्थ सेवन किये, प्रपंच और कूट कर्मसे अन्य जीवोंको ठगा, झूंठ बोलकर दूसरे जीवोंको कष्ट पहुचाया। आक्रोश वचन कहे, हाय! हाय! मैंने दूसरोंका बुरा विचारा, अनिष्ट चितवन किया, परधन हरण करनेकी इच्छा की, हाय! मैंने अपने स्वार्थसे अनेक जीवोंका दिल दुखाया, हाय! मैं बड़ा पापी हूं, निंद्य हूं, क्रूर कर्मका करनेवाला हू, हाय! मै दुरात्मा हूं, मायावी हूं, वंचक हू, रागद्वेषसे मलिन हूं. हाय! हाय! मैंने अनंत घोर पाप किये इत्यादि अनेक प्रकार अपने किये हुए कर्मोंकी

निंदा करे, उनका चिंतवन करे अपनी आत्माके बुरे कर्तव्योंकी आत्म निंदा करे ऐसा करनेसे वह पाप कर्मसे अवश्य भयभीत होगा और अपने बुरे कर्मोंका चिंतवन करनेसे पुन पापकर्म करनेमें विचार करेगा–उनके छोडनेके लिये प्रयत्न करेगा, सदाचारसे अपना जीवन पवित्र और निर्दोष बनायेगा, आत्म कल्याण करनेमें तत्पर रहेगा, अशुभ प्रवृत्तियोंको रोकेगा, वीत राग अवस्थाका चिंतवनकर आत्म स्वरूपमें स्थिर रहेगा, दयाको अपना कर्तव्य समझेगा समस्त जीव मात्रको आत्मबंधु समझकर सबकी भलाईमें आत्म भलाई समझेगा।

आत्मनिंदासे कुत्सित कर्मोंसे ग्लानि होती है व ससार विष समान भयंकर प्रतीत होता है। यद्यपि ऐसे जीव संसारके समस्त कार्य कर्मोदयसे करते हैं तथापि उनकी आत्मभावना उक्त कर्मोंसे विरक्त रहती है। ससार नाट्यशालामें अनेक भेष धारण करता है तो भी वह तद्रूप अपनेको नहीं मानता, विषयोंमें आत्म प्रीति नहीं करता उनकी वरबार आलोचना और प्रत्यालोचना करता है, वह उनका भोग करते हुए भी विवश रोगीकी तरह अपना कार्य करता है और उनके त्याग करनेका अवसर सदैव ढूंढता रहता है।

आत्म निंदासे कृतकर्मोंकी निर्जरा होती है, और कर्मोका रस तीव्र नहीं होता है इतना ही नहीं किंतु वह कर्मोंके फल भोगनेमें सुख दुःख नहीं मानता हुआ आत्मस्वरूपका विचार करता है इसलिये जो जीव अपने किए कर्मोंकी निंदा करता है, आलोचना करता है उसके आत्म गुणको जाननेसे सम्यक्त्व प्रादुर्भाव होता है। यह निंदा आत्मसाक्षीसे होती है।

आत्मनिन्दाके लिये मिच्छामि पाठ पढना चाहिये, समस्त जीवोंसे अपनी विराधनाकी क्षमा मांगनी चाहिये। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा, द्वेष, वैर, अशुभ चिंतवन, आर्त रौद्र ध्यान, निदान, मात्सर्य, मोह और अज्ञानको दूर करना चाहिये। सामायिक शुभ भावोंसे करना चाहिये, ये चिह्न भी सम्यक्तके प्रदर्शक है।

गर्हा–गुरु अथवा तीर्थंकरके समक्ष पडिक्रमण करना, आत्म दोषोंको निवेदनकर पश्चात्ताप करना गर्हा है। आत्म निंदासे गर्हा अति कठिन और गुरुतर है, क्योंकि जीव मोहनीय कर्मके उदयसे अपने कृत कर्मोंकी आलोचना दूसरोंके सामने प्रकट करनेमें हिचकता है, अपने कुत्सित कर्मको प्रकट करनेमें लज्जित होता है। बहुत ऐसे पाप हैं जिनको यह जीव किसीसे कह नहीं सक्ता और ऐसा करनेमें अपनी अप्रतिष्ठा समझता है। मर्यादाको भंग करनेसे मन ही मनमें आकुलित होता है परन्तु प्रकटरूप दूसरोंके साथ कह नहीं सक्ता, इसलिये गर्हा करना सचमुच दोषोंको छोड देनेकी अपेक्षा कठिन है। सदाचरणमें मनकी सूक्ष्म क्रियासे अतीचार, अनाचार, (अतिक्रम व्यतिक्रम) अनेक दोष लगते हैं। क्योंकि जीव बडा प्रमादी है, मोहनीय कर्मके उदयसे मायावी है, लोभी है रागी, द्वेषी है, दुर्बुद्धि है, असदाचारी है, इसलिये अनेक हिंसा जनित कार्य इससे होते हैं। पापवृत्ति द्रव्य क्षेत्र कालके निमित्त होजाती है। मन, वचन, कायकी कुप्रवृत्तिसे अनिष्ट और दुराचार होनेकी सदैव संभावना रहती है, संभावना ही क्यों, आत्मसंयमी होनेपर भी अशुभप्रवृत्ति हो ही जाती है। इसलिये

आत्मभावोंको विशुद्ध रखकर आत्मगर्हा करनी चाहिये जिससे पापाचरणमें प्रवृत्ति होनेसे भय हो। कुप्रवृत्तिसे अपनी आत्म भावना करे और वीतराग भावमें स्थिर रहकर अनंत सुखको प्राप्त करे। यह गर्हा भी आत्म भावोंकी विशुद्धिसे होती है अतएव सम्यक्त्वका कारण है।

भक्ति–अरहंत, श्रुत, गुरु, जिनधर्म और तपमें विशेष अनुराग भक्ति है। भक्ति भावना, गुणानुराग और हार्दिक प्रेमसे होती है। परमात्मपदकी प्राप्तिके लिये यदि सबसे सरल और सच्चा उपाय है तो एक मात्र भक्ति है, अति उच्च कोटिके कार्य संसारमें भक्ति सिवाय और अन्य किसीसे सिद्ध नहीं होसक्ते। भक्ति आत्म परिणामको ऐसा उत्कट और प्रेममय बना देती है कि जिससे असाध्य और गुरुतर कार्य अति सुगमतासे सहज प्राप्त हो जाते हैं। भक्ति भावनामें वह विलक्षण अपार शक्ति है कि जो बातें चमत्काररूप होनेसे असंभाव्य प्रतीत होरही हैं वे सब स्वयमेव सिद्ध होजाती है। सर्पसे हार होना, विषसे अमृत होना, अति असाध्य महामारी और गलित कोढसे तत्काल अति मनोहर दिव्य शरीरवाला होना ये सब अद्भुत चमत्कार भक्तिके हैं। असाध्यसे असाध्य और कठिनसे कठिन बात भी भक्तिभावसे तत्काल सिद्ध हो जाती है।

बहुतसे मनुष्य ऐसे कार्योंको गप्प समझते होंगे परन्तु यह उनकी बड़ी भारी भूल है, वे भक्तिमार्गको जानते ही नहीं, भक्तिके लिये ये सब बातें साधारण हैं किंतु भक्तिसे यह आत्मा स्वयं परमात्मा होजाता है; तो उन सिद्धियोंके लिये सशंक होना अनुचित है।

गुणानुराग और सच्चे प्रेमका कार्य भक्ति है। आत्मामें अनंत शक्ति है, त्रिलोकको वह अपने स्वाधीन कर सकती है, आत्माकी ऐसी शक्तिका विकाश भक्तिसे होता है। आत्माका असली रूप वीतराग अवस्था है, वह अवस्था मोहकर्मके उदयसे उससे बिलकुल विपरीत रागी होरही है। ऐसी आत्मा यदि वीतराग हो सक्ती है तो मात्र एक अरहत भगवानकी भक्तिसे होगी।

गृहस्थोंके कर्तव्योंमें सबसे प्रथम कर्तव्य जिनपूजन है, और यह जिनपूजनादिक कार्य विना भक्तिके नहीं होसक्ता। भक्ति अनन्य मन होकर अपना सर्वस्व और आत्मबल समर्पण कर देती है। भक्ति अपने प्यारे प्राणोंको दूसरोंके स्वाधीन करनेमें पीछे नहीं पडती।

भक्ति—क्यों करनी चाहिये? इस प्रकारका प्रश्न प्रायः सबको होता ही है। इस प्रश्नका समाधान यह है कि जिस समय हम अपनेसे कुछ अधिक गुण दूसरेमें देखते हैं, तब उन गुणोंको ग्रहणकी भावना या आतरिक प्रेम होता है। यह प्रेम ही भक्तिका उत्पादक है। सबसे उत्कृष्ट गुण अरहत भगवानमें हैं। वे गुण अन्य देवोंमें नहीं हैं। इसलिये अरहंत भगवानके अनत ज्ञानादिक गुणोंको ग्रहण करनेकी भावना जब अपने मनमें जाग्रत होती हैं तब भक्ति करनेका अनुराग होता है। भक्तिसे समन्तभद्रस्वामीने शिवपिंडीको तोडकर चंद्रप्रभ स्वामीका दर्शन किया। भक्तिसे ही मानतुगकी बेडी टूट गई। भक्तिसे ही सेठके पुत्रका विष नाश हुआ। भक्तिसे मैनासुदरीने अपने स्वामीका कोढ नष्ट किया। वर्तमान समयमें भी भक्तिसे मनुष्य अनेक विघ्नबाधाओंको नष्टकर

सुख सपत्ति प्राप्त करते हैं। मनके मनोरथ भक्तिसे अवश्य ही सिद्ध होजाते हैं इसलिये भक्ति सबको करनी ही चाहिये।

भगवानके जन्मकल्याणकपर इन्द्र भक्तिसे कैसा उत्सव करता है इसलिये वह दूसरे भवमें ही मोक्षका अधिकारी होता है। रावणने व्याल मुनीश्वरकी भक्ति कैलासगिरीपर की जिसके फलसे तीर्थंकर कर्मका बन्ध हुआ। परमात्म पदकी प्राप्तिका सरलसे सरल मार्ग एक भक्ति है। कोई भी कार्य करो–सबसे प्रथम श्री जिनेन्द्र भगवानके नामका उच्चारण करो। खाते पीते बैठते उठते चलते और व्यापार करते हुए भी भगवानके नामको मत भूल जाओ। ससारके समस्त कार्य करते हुए भी अपना ध्यान प्रभुके गुणोंमें ही लगा रहे, तल्लीनता बनी ही रहे, मनकी वृत्ति सदा प्रभुके गुणोंमें ही मग्न रहे इसको भक्ति कहते हैं।

आस्तिक्य–सम्यग्दर्शनको व्यक्त करनेका कारण एक यह भी है। सच पूछो तो जबतक आस्तिक्य भाव जागृत नहीं हुए हैं तबतक न सवेग है न प्रशम है, न निर्वेग है और न भक्ति ही है। सब गुणोंका कारण आस्तिक्य है इसलिये आस्तिक्यका स्वरूप अवश्य जान लेना चाहिये।

देव, शास्त्र, व्रत, तत्व और परलोक आदि पदार्थोंमें श्रद्धा रखनेको आस्तिक्य भाव कहते है और इसके विपरीत भावको नास्तिक्य कहते हैं।

दान पुण्य, देवाराधन, जप, तप और परोपकारके कार्य इस आस्तिक्य भावसे ही होते हैं। आत्माके आस्तित्वकी इस भावसे व्यक्तता होती है। आस्तिक्य भावको धारण करनेवाले

भव्यजीव पापसे डरते हैं, दूसरोंकी निंदा करते भयभीत होते हैं, हिंसा, झूंठ, चोरी और कुशील आदि पापोंसे ग्लानि करते हैं और समस्त जीवोंकी दया पालन करना आदि पुण्यके कार्य करते हैं।

आस्तिक्य भावको धारण करनेवाले भव्य जीवोंके विचारोंमें ऐसी दृढ श्रद्धा बनी रहती है कि 'मैं जो पाप कर्म करूंगा उसका परलोकमें फल अवश्य ही भोगना पडेगा इसलिये पाप कर्मोंका परित्यागकर पुण्यके कार्य करूं" इसी भावनासे प्रेरित होकर आस्तिक्य भावनावाले जीव पापसे डरकर पुण्यके कार्य करने लग जाते हैं। और इसी भावनासे जीव कर्म फंदको तोडकर मुक्तिकी प्राप्तिके लिये प्रयास करने लगता है। घोर उपसर्गोंको सहनकर जो भव्य अपने ध्यानसे जरा भी विचलित नहीं होते हैं इसका कारण यही है कि उनके परिणामोंमें तत्वोंके स्वरूपकी ऐसी दृढ़ आस्तिक्य बुद्धि होरही है जिससे वे बाह्य स्वरूपपर ध्यान न देकर अपने आत्मगुणोंमें तन्मय होजाते हैं इसलिये आस्तिक्य गुणसे सम्यग्दर्शनकी व्यक्तता होती है।

अनुकंपा-दयाको कहते हैं। समस्त जीवोंकी रक्षा करनेके विशुद्ध परिणामोंका होना अनुकंपाका फल है। अनुकंपा धारण करनेवाले दयालु पुरुषकी आत्मा दयासे ऐसी स्निग्ध होजाती है कि वे किसीको दुःखी अवस्थामें देख नहीं सक्ते हैं। उनकी भावना सदैव ऐसी बनी रहती है कि दुःख जैसा मुझको कष्ट देता है वैसा इन सबको देता होगा। दुःखको दूरकर जैसे मैं सुखी होना चाहता हूं वैसे ही ये जीव भी सुखी होना चाहते हैं इसलिये मैं इनके दुःखको दूर करूं, ऐसी विशुद्ध भावनासे वह

समस्त जीवोंपर अपार दया दिखलाता है। तुच्छसे तुच्छ, और छोटेसे छोटे जीवपर भी वह वैसी ही सहानुभूति रखता है जैसी कि बलवान पंचेंद्रिय जीवपर होती है। उसकी दृष्टिमें एक इंद्रिय और पंच इंद्रिय जीवमें एक समान आत्मा है इसलिये वह सब जीवोंको सुख और शांति प्राप्त करानेका प्रयत्न करता है॥१६॥

जिस प्रकार ज्ञान और दर्शनसे आत्माके अस्तित्वका ज्ञान होता है उसी प्रकार इन प्रशमादि गुणोंसे इस जीवमें सम्यग्दर्शन है, ऐसा व्यक्त रूप ज्ञान होता है।

आत्मा अमूर्तिक द्रव्य होनेसे इंद्रियप्रत्यक्ष नहीं है। सम्यग्दर्शन भी उस आत्माका अमूर्तीक गुण है इसलिये वह भी इंद्रियप्रत्यक्ष नहीं है। परन्तु आत्माके कितने ही गुण ऐसे भी हैं जो कि अनुभवमें सबको प्रत्यक्ष ज्ञानके समान प्रतीत होजाते हैं। जैसे ज्ञान और दर्शन गुणोंका अनुभव सबको होता है वैसे सम्यग्दर्शन गुणका अनुभव दूसरे जीवको नहीं होता है कि इस जीवके सम्यग्दर्शन है तो भी प्रशमादिक गुणोंसे यह व्यक्त होजाता है कि इस जीवके सम्यग्दर्शन नियमसे है।

सम्यग्दर्शन आत्माका आल्हादजनक परिणाम है। जिस जीवको सम्यग्दर्शन होता है उसका अनुभव उस जीवको होता है तो भी उसके बाह्य प्रशमादि गुणोंसे दूसरे जीव भी निश्चय कर लेते हैं कि इस जीवके नियमसे सम्यग्दर्शन है। इसी लिये व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका कारण बतलाया है। जिनके व्यवहार सम्यग्दर्शन (देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धारूप) है उसके निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त हो ही जाता है, परन्तु जिसके

व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं है उसके निश्चय सम्यग्दर्शन होता ही नहीं है। इसलिये भव्य जीवोंको अपने परिणाम सदैव सरल शांत और निष्कपट रखना चाहिये तथा प्रशम गुणोंको धारणकर सम्यग्दर्शनको समुज्वल बनाना चाहिये।

बहुतसे मनुष्य सदाचारको शरीरकी पवित्रताका कारण मानते हैं और सम्यग्दर्शनको इन्द्रिय ज्ञान जनित श्रद्धा मानते हैं सो इस प्रकार मान्यता आगमके अनुकूल नहीं है मिथ्या है, क्योंकि सदाचार दो प्रकारका है। निश्चय चारित्र तो आत्मरूप होनेसे आत्मासे भिन्न है उसको कथंचित आत्माका गुण कह सक्ते हैं जो आत्माको छोड़कर अन्यत्र रह नहीं सक्ता। जिस समय आत्मा अपने असली स्वरूप (अरहंत अवस्था स्वरूप) को प्राप्त होता है तब उस आत्माके यह चारित्र प्रकट होता है और सिद्ध अवस्थामें भी अनंतकाल पर्यंत ज्ञानादिक गुणोंके समान रहता है। व्यवहार चारित्र आत्माके अमूर्तीक स्वभावको व्यक्त करनेका कारण है। इसलिये वह भी कथंचित आत्मानुरूप ही है। कार्यकारणमें भेदकी अपेक्षा नहीं रखनेसे कारण भी कार्यरूप ही कहे जाते हैं। इस लिये व्यवहार चारित्र भी आत्मानुरूप है। उसको शरीर संपत्तिके लिये ही मानना यह भूल है। यह बात दूसरी है कि व्यवहार चारित्रको पालन करनेसे शरीर भी समुज्वल बना रहे। परन्तु व्यवहार चारित्रका उद्देश्य निश्चय चारित्रकी सिद्धि है। और सम्यग्दर्शनको इन्द्रियजनित ज्ञान या श्रद्धा मानना नितांत भूल है क्योंकि इन्द्रियोंको इन्द्रियरूप मानना वस्तु-स्थिति है, इस प्रकारकी श्रद्धा तो जैनागम भी कहता है परन्तु इंद्रियोंको आत्मा मानकर श्रद्धा

करना प्रत्यक्ष ही विरोधजनक है। इंद्रिय जड पदार्थ हैं, उनमें आत्माके आस्तित्वकी शक्ति नहीं है। जिस समय शरीरसे जीव निकल जाता है तब इंद्रियोंका आस्तित्व रहनेपर भी सुख दुःखका अनुभव रूप कार्य नहीं होता है। इसलिये इंद्रियां आत्मा नहीं हैं। एक शरीरमें पाच इंद्रिय होनेसे एक शरीरमें पाच आत्माकी कल्पना करनी पडेगी इसलिये भी इंद्रियोंको आत्मा नहीं कह सक्ते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शनका विषय इंद्रियजनित ज्ञान या श्रद्धा मानना भूल है। सम्यग्दर्शन आत्माका गुण और उसका विषय आत्मा ही है, इंद्रिया नहीं है।

इस मिथ्याचारित्र और मिथ्याज्ञानको परित्यागकर सम्यग्दर्शनको विशुद्ध रखना चाहिये। जो मनुष्य मिथ्याचारित्र और मिथ्या ज्ञानको धारण करते हुए भी सम्यग्दर्शनका सद्भाव स्वीकार करते हैं वे भूलते हैं। जिन मनुष्योंके जिनागमके सर्वांशोंमें विश्वास नहीं है, उनके सम्यग्दर्शन नहीं है और जिनके व्यवहार चारित्र (कुल परम्परागत सदाचार धर्मानुकूल रीति रिवाज-और भोजनादिक पान व्यवस्था आदिको व्यवहार चारित्र कहते हैं तथा विशुद्ध हिंसा झूठ आदि पच पापके त्यागको भी व्यवहार चारित्र कहते है) नही है उनके भी सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता नहीं है। जो मनुष्य व्यवहार चारित्रको धर्मरूप नहीं मानता है अन्यकारण रूप मानकर जिनागमको आज्ञाका उल्लंघन करता है वह अवश्य ही मिथ्यात्वी है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों एक हैं, अभिन्न है, ये तीनों आत्मासे भिन्न नहीं है। आत्मामय

है, आत्मरूप है, इसलिये तीनोंको धारणकर सच्चा सुख प्राप्त करो। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका परित्याग करो ॥ ५४ ॥

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इस प्रकार सात प्रकृतियोंके शांत होनेपर उपशम सम्यग्दर्शन क्षय होनेसे क्षायिक सम्यग्दर्शन, और क्षयोपशम होनेसे क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता है। अथवा चारित्र-मोहनी कर्मकी चार प्रकृति तथा मिथ्यात्व प्रकृतिके उपशम होनेसे उपशम सम्यग्दर्शन, सातों प्रकृतियोंके समूल नाशसे क्षायिक सम्यग्दर्शन और सर्वघाति प्रकृतियोंके उपशम होनेपर तथा देशघाति प्रकृतियोंके उदय होनेपर जो सम्यग्दर्शन होता है उसको क्षायोपशमिक कहते हैं। परन्तु तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनमें तत्वोंका श्रद्धान अविचल रहता है। तत्वोंका विपरीत या संदेहात्मक श्रद्धान होनेसे सम्यग्दर्शनकी सत्ता नष्ट हो जाती है।

ये तीनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शन आत्माके स्वरूपका साक्षात् अनुभव करानेवाले हैं। इनसे आत्माका बोध होता है। और कुछ समयके लिये आत्मा अपने स्वरूप कथंचित मग्न भी हो जाता है।

जिन जीवोंको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो गई है वे शीघ्र ही संसारकी परिपाटीको नष्टकर केवलज्ञानरूपी ज्योतिद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष दर्शन करेंगे, अनंतसुखको प्राप्त होंगे और संसारके समस्त बन्धनोंको तोड़कर पूर्ण स्वतंत्र हो जायगे, कर्ममलरहित अविचल दशाको प्राप्त हो जायंगे या परमात्मस्वरूप हो जायगे। इस लिये सम्यग्दर्शन आत्माको परमात्मारूप होनेका मुख्य साधन

है। इसके विना आत्मा अपने गुणोंकी उन्नति नहीं कर सक्ता और न सुखकी प्राप्ति ही कर सक्ता है। इसलिये सम्यग्दर्शनके समान और कोई सुखका कारण नहीं है और मिथ्यात्वके समान दुःखका कारण कोई नहीं है।

इन तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनमेंसे क्षायिक सम्यग्दर्शन आत्माको मोक्षमार्गमें साक्षात् संयोजित करता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीवको नियमसे मोक्ष होती है। यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता है इसी लिये इसको आदि और अनन्त कहते हैं।

सम्यग्दर्शनके एक दो तीन दश आदि बहुतसे भेद हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन एक रूप ही है। सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं। उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ऐसे तीन भेद हैं। आज्ञोद्भव १, मार्गोद्भाव २, उपदेशोद्भव ३, सूत्रोद्भव ४, बीजोद्भव ५, सक्षेपार्थोद्भव ६, विस्तारार्थोद्भव ७, अर्थोद्भव ८, अवगाढ ९, और परमावगाढ १० इस प्रकार दश भेद हैं॥ ५७॥

अब इनका सक्षेपसे स्वरूप कहते है—

आज्ञा सम्यदर्शन—श्री वीतराग सर्वज्ञ देवने पदार्थोंका स्वरूप जैसा वर्णन किया है वह उसी प्रकार है, अन्य नहीं है, अन्य प्रकार हो नहीं सक्ता। इस प्रकार दृढ श्रद्धानसे जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित पदार्थोंका शंकादि दोषरहित यथार्थ श्रद्धान करना सो आज्ञा सम्यक्त्व है।

आज्ञा सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला भव्य जीव आगमकी प्रमाणताको निश्चयकर अपने विचारोंको आगमके अनुकूल ही

रखता है, जिनागमके अर्थमें संदेह नहीं करता है, चारों अनुयोग समान शास्त्रोंको जिनेन्द्र देव प्रतिपादित समझकर सत्य मानता है।

इस आज्ञा सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला भव्य जीव जिनागमके अर्थमें संदेह उत्पन्न हुआ तो तर्क कर सक्ता है। परंतु वह आगमके अर्थके अनुकूल ही करता है। क्योंकि उसको यह दृढ निश्चय रहता है कि समस्त अर्थ इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं हो सके। इसलिये श्री जिनदेवने जो कुछ कहा है वह सर्वथा ही सत्य है। वह भव्य जीव–प्रबल युक्ति और बुद्धिके चमत्कारसे जिनागमके विरुद्धार्थको सत्य नहीं मानता है। और न ऐसे चमत्कारसे विस्मय होकर अन्यथा श्रद्धान करता है। अथवा लोगोंके देखादेखी सन्मार्गको भूलकर अन्यथा मानने नहीं लगता है। लोभ, आशा और भयसे भी अन्यथा होनेकी संभावना नहीं करता है। निंद्य वासना और कुत्सित अभिप्रायसें मिथ्या तर्कोंके द्वारा वह पदार्थोंके स्वरूपको अन्यथा होना मानता ही नहीं है।

मार्गोद्भव सम्यग्दर्शन—सर्वज्ञ वीतरागद्वारा आचरण किये हुए रत्नत्रयरूप मार्गको ही सत्य मार्ग समझकर "इस मार्गसे अन्य मार्ग सत्य नहीं है" ऐसी दृढ श्रद्धाको धारणकर रत्नत्रय मार्गमें विश्वास करना सो मार्गोद्भव सम्यग्दर्शन है।

रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग निर्ग्रंथ लिंगसे और जिनागममें कहे हुए आचरणको धारण करनेसे व्यक्त होता है परन्तु उस रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके स्वरूपको सग्रंथ अवस्थामें ही कल्पना करनेवाले और जिनागमके अनुसार विशुद्ध चारित्रको धारण नहीं करनेवाले जैनाभासोंको रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गका अनुयायी सम-

झना । अथवा आचरण रूप रत्नत्रयके अंशको छोडकर ज्ञान अंशसे मोक्षमार्ग मानना सो मिथ्या दर्शन है । मार्गमें संशय या विपरीत कल्पना करना मिथ्यात्त्व है । मार्गोद्भव सम्यग्दृष्टि ऐसी कल्पनाको सत्य नहीं मानता है ।

रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके स्वरूपसे अन्यथा स्वरूपको धारण करनेवालोंको मोक्षमार्गका अनुयायी मानना या रत्नत्रयरूप मार्गको कल्पना कल्पित है । ऐसा भ्रम उत्पन्नकर मोक्षमार्गको सत्य नहीं मानना, अथवा व्यवहारसे निर्ग्रंथ और सग्रन्थ भेद है, निश्चयसे सब एक ही है, ऐसा कहकर जैन और जैनाभासोंको एकरूप मानना सो सब मिथ्यात्व है ।

मार्गानुयायी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मार्गमेंसे किसी एक मार्गके स्वरूपको नहीं माननेसे या उनके स्वरूपको अन्यथा कल्पना करनेसे मार्ग नहीं मानते हैं । और न वे उसको मार्गका अनुयायी ही समझते हैं । जो मार्गसे अन्यथा चलनेवालोंको और मार्गानुकूल चलनेवालोंको एक समझता है वह तीव्र मिथ्यात्वी है ।

श्री जिनेन्द्र भगवानके मार्गकी ऐसी आज्ञा नहीं है कि जैनागमके अनुकूल मार्गपर चलनेवाले और जैनाभास मार्गपर चलनेवालोंको एक समझलो । या सबको सत्यमार्गका अनुयायी मान लो । या दोनों प्रकारके मार्गोंको नवीन प्रकारसे छाट काटकर एक रूप गडलो । मोक्षमार्गके स्वरूपमें सहज ही व्यक्तिक्रम करनेसे उस पदार्थका सत्य स्वरूप लोप हो जाता है इसलिये वहापर सत्य मार्गका भी लोप हो जाता है ।

उपदेशोद्भव सम्यग्दर्शन—तीर्थंकर, कामदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती आदि पुण्य पुरुषोंके चरित्र सुननेसे जो आत्माके परिणाम विशुद्ध होते हैं, उसको उपदेशोद्भव सम्यग्दर्शन कहते हैं।

पवित्र जैन धर्मको धारणकर नोला, साप, तोते और मेढक आदि क्षुद्र जीव ऐसे उत्तम पदको और सर्व प्रकारके सुखको प्राप्त हुए। ऐसे उपदेशसे जो भव्य जीव जैनधर्मको सत्य धर्म मान जैनधर्मको ग्रहण करता है वह उपदेशोद्भव सम्यग्दर्शनका धारण करनेवाला है। इसी प्रकार तीर्थंकरके पंचकल्याणोंकी महिमा, चक्रवर्तीके विभवकी महिमा आदिको सुनकर जो सम्यग्दृष्टी होता है वह उपदेशोद्भव सम्यग्दृष्टी है।

मुनि और श्रावकके आचार-शास्त्रोंको सुनकर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो वह सुत्र सम्यग्दर्शन है।

जैन धर्मकी महत्वता उस धर्ममें प्रतिपादित मुनि आचरणोंकी पवित्रतासे होती है। अन्य मत और जैनमतके बाह्य स्वरूपमें यदि भेद है तो मात्र एक आचरणोंका ही है। इन आचरणोंके प्रभावसे जैन धर्म सबसे उत्कृष्ट धर्म है ऐसा बोध होता है। अहिंसाका वर्णन जैसा जैनधर्ममें है वैसा अन्य धर्मोंमे सर्वथा नहीं है। इससे लोगोंको यह विश्वास होता है कि जीवोंकी दया पालन करनेवाला धर्म है तो एक मात्र जैन धर्म है। इस प्रकार विश्वासकर जो मनुष्य जैन धर्मको स्वीकार करता है वह सुत्र सम्यग्दर्शनका धारी है।

जलगालन, रात्रि भोजन त्याग, अभक्ष भक्षण त्याग और

शुद्ध भोजन पान आदि आचरणोंसे भी धर्मकी महिमा अद्भुत होती है। कभी २ तो ऐसे व्यवहारके आचरणोंसे धर्मकी परीक्षा होकर जगतमान्य पवित्रता प्रकट होती है। इसका कारण एक यह भी है कि व्यवहारके आचरणोंकी पवित्रतासे आत्माके परिणाम बडे पवित्र हो जाते हैं जिसकी छाप अन्य धर्मपर अवश्य होती है। इसी प्रकार हिंसादि पापकर्मोंके परित्यागकी छाप भी अन्य धर्मपर अवश्य ही पडती है।

मुनिवरको घोर परीषहका विजयी देखकर कितने ही जीव सम्यग्दृष्टी हुए हैं। मुनीश्वरोंके निस्पृह चारित्रको देखकर कितने मनुष्य सम्यग्दृष्टी हुए हैं।

मुनीश्वरके समतारूप चारित्रको देखकर श्रेणिक महाराज सम्यग्दृष्टी हुआ। मुनीश्वरको शीत समय भी ध्यानस्थ देखकर ग्वालिया सम्यग्दृष्टी हुआ। अनेक मनुष्य मुनि और गृहस्थोंके पवित्र आचरणोंको देखकर सम्यग्दृष्टी हुए। इसलिये अपने आचरण सदैव पवित्र रखना चाहिये।

जो भव्यजीव देव, शास्त्र, गुरु और तत्वोंके स्वरूपकी गाढ श्रद्धा करता है वह समस्त आगमका वेत्ता होता है। इस प्रकारके फलको सुनकर जो सम्यग्दर्शन धारण करता है वह बीज सम्यग्दर्शनका धारण करनेवाला है अथवा कार्माण वर्गणा और आत्माके परिणामोंका स्थिति आदिके बीजगणितसे पदार्थोंको निश्चयकर श्रद्धान करना सो बीज सम्यग्दर्शन है। अथवा कर्म और आत्माके स्वरूपको पृथक् २ सुनकर कर्मसे आत्मा भिन्न है, ऐसा विश्वास करना सो बीज सम्यग्दर्शन है।

संसारी जीव अज्ञानतासे कर्मोंके स्वरूपको यथावत नहीं जानते हैं। इस लिये वे कर्मसे आच्छादित आत्माको जडरूप मानते हैं। कर्म और आत्मामें भेद नहीं मानते हैं। इस प्रकार आत्मस्वरूपको भूले हुए जीवोंको कर्मोंका स्वरूप सुननेसे आत्म-बोध होता है। अथवा सम्यग्दर्शनादिकके फलको सुनकर सम्यग्द-र्शनको धारण करना सो भी बीज सम्यग्दर्शन है।

संक्षेपार्थोद्भव सम्यग्दर्शन—पदार्थोंके संक्षेप स्वरू-पको सुनकर श्रद्धान करना सो सक्षेपार्थोद्भव नामका सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन महान पुण्यात्माको होता है। विद्यानंदी स्वामी आदि भव्यजीवोंको यह सम्यग्दर्शन हुआ है।

द्वादशांगवाणीके समस्त विस्तारको सुनकर जो भव्यजीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त हो वह **विस्तारार्थोद्भव सम्यग्दर्शन** है।

अर्थोद्भव सम्यग्दर्शन—आगमको पढ़कर अपने आप ही पदार्थोंका निश्चयरूप श्रद्धान हो वह अर्थोद्भव सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन स्वप्रत्यय होता है।

अवगाढ—अंग और अंगबाह्यादि समस्त शास्त्रोंके जान-नेसे आत्मामें अत्यन्त दृढतारूप जो पुनः चलायमान न हो ऐसे सम्यग्दर्शनका होना सो अवगाढ सम्यग्दर्शन है।

परमागाढ—जो केवलज्ञानी या अवधिज्ञानी या मनःपर्य-यज्ञानी मुनीवर समीप अपने भवभवांतरोंको सुनकर अथवा केव-लज्ञानीका सातिशय प्रभाव देखकर जो अपनी आत्माका स्वयं विश्वास हो जाय, पदार्थोंकी श्रद्धा स्वयं हो जाय, आत्माका अनु-भव हो जाय वह परमावगाढ नामका सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति "निसर्ग और अधिगमके भेद" से दो प्रकार है.। निसर्ग सम्यग्दर्शनमें बाह्य प्रयत्नोंकी अधिक अपेक्षा नहीं रहती है, परन्तु अधिगम सम्यग्दर्शनमें बाह्य साधनोंकी विशेष अपेक्षा होती है।

दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनमें पदार्थोंके बोधकी आवश्यकता होती ही है। निसर्ग सम्यग्दर्शनमें काललब्धि आदि कारणकलापोंकी आवश्यकता है ही। इसी प्रकार पदार्थोंके स्वरूपके अवगम करनेकी भी आवश्यकता है। परन्तु अधिगम सम्यग्दर्शनके समान बाह्य प्रयत्नोंकी विशेषताकी अधिक आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके अन्तरंग कारण उपस्थित होनेसे जो सम्यग्दर्शन बाह्य कारणोंकी विशेष अपेक्षा न रखकर उत्पन्न हो वह निसर्ग सम्यग्दर्शन है। और अतरग कारणकी उपस्थिति होनेपर जो बाह्य कारणोंकी विशेषतासे उत्पन्न हो वह अधिगम सम्यग्दर्शन है।

निसर्ग और अधिगम सम्यग्दर्शनमें यह भी भेद है कि निसर्ग सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर विरुद्ध कारणकलापोंके मिलने पर छूट भी जाता है। परन्तु अधिगम सम्यग्दर्शन प्रमाण, नय, निक्षेप आदिसे तत्वकी पूर्ण परीक्षाकर दृढ निश्चयात्मकरूप होता है, संदेहादि दोषोंसे सर्वथा रहित होता है और फिर नष्ट नहीं होता है, अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता है, आत्मबोधसे पतित नहीं होता है, केवलज्ञानको प्रकट किये विना नहीं रहता है।

सम्यग्दर्शनके ऊपर भेद संक्षेपसे कहे हैं। सम्यग्दर्शनके उक्त भेद समुदाय रूपसे हैं। यदि भिन्न २ जीवोंकी अपेक्षा

सम्यग्दर्शनके भेदोंका वर्णन किया जाय तो बहुतसे भेद हो जांयगे। क्योंकि जीवोंकी परिणति सबकी एक रूप नहीं होती हैं। परिणतिमें भेद होनेसे सम्यग्दर्शनमें भी भेद होजाता है।

सम्यग्दर्शनके नि शंकादिक ३३ गुण जो ऊपर वर्णन किये हैं वे गुण सम्यग्दर्शनके नाश होनेसे दोषरूप परिणत होजाते हैं। और सम्यग्दर्शनके १५ दोष मिथ्यात्वके नाश होनेपर गुणरूप परिणत होजाते हैं। जिन जीवोंके परिणाम मिथ्यात्व रूप हैं उनमें सम्यग्दर्शनके गुण प्रकट नहीं होते हैं। और जिन जीवोंके परिणाम सम्यग्दर्शनमय है उनमें सम्यग्दर्शनके दोष प्रकट नहीं होते हैं। अथवा यह जीव जिस समय अपनी आत्मासे सम्यग्दर्शनके दोषोंका परित्याग गुणोंको धारण करता है उस समय उसके सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है।

जिससमय जीव मिथ्यात्व भावमें परिणत होता है उस समय उसको नि शंकादि गुणोंसे प्रेम होता ही नहीं है। भले ही वह अपनेको जैन धर्मका अनुयायी मानकर व्यवहार सम्यग्दर्शनके धारण करनेका अपनेको पात्र समझता है परन्तु उसकी अभिरुचि दोषोंकी तरफ ही होती है। वह निर्मल आगममें दोषोंको देखता है, सच्चे गुरुओंमें दोषोंका अस्तित्व समझता है, अरहंत भगवानको सर्वज्ञ न समझकर एक प्रखर वक्ता समझता है। इत्यादि प्रकारसे उसके परिणाम मिथ्यात्व रूप ही रहते हैं। वह आत्मामें अभिन्न प्रकारसे रुचि करता है।

आत्मपरिणतिके विभिन्न प्रकारके परिणमन होनेसे दोष रूप परिणमन हो जाते हैं और गुण दोष रूप परिणमन होजाते

हैं। इसलिये भव्य पुरुषोंको अपने विचार सदैव निर्मल रखना चाहिये, अपने परिणामोंसे विपरीत श्रद्धान नहीं करना चाहिये। और जिन कार्योंसे दोषोंकी उत्पत्ति हो ऐसे कारणोंको नहीं उत्पन्न करने चाहिये। अपने विचार निःशंकादि गुणोंकी तरफ ही होने चाहिये। अपनी भावना भी गुण रूप होनी चाहिये। अपना बाह्य आचरण भी गुणोंके अनुकूल हो ऐसा रखना चाहिये। बाह्य और अभ्यंतर आचरण गुणोंके अनुसरण करनेवाले हो तो गुणोंकी वृद्धि होती है। और जो बाह्य आभ्यंतर आचरण दोष रूप हों तो सम्यग्दर्शन छूटकर मिथ्यात्व रूप होजाता है।

हे भव्यजीव! दोषोंका परित्याग करो। और गुणोंका ग्रहण करो। दोषोंके परित्याग किये विना सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं होगा और गुणोंको ग्रहण किये बिना सम्यग्दर्शन ससारको नाश करनेवाला नहीं होगा। इस लिये अपने आचरण, अपने विचार और अपने परिणाम गुणोंके ग्रहण करनेमें लगाओ और दोषोंका परित्याग करो।

जो भव्यजीव दोषरहित और गुणसहित सम्यग्दर्शनको धारण करता है वह तीन जगतकी मनोहर लक्ष्मीको प्राप्त होता है, कर्मोंका नाशकर अविनाशी पदको प्राप्त होता है।

यदि एकवार भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो गई तो यह जीव सम्यग्दर्शनके प्रभावसे षट् नरकोंमें नहीं जाता है, भवनत्रिक देवोंमें उत्पन्न नहीं होता है, तिर्यंच नहीं होता है, स्त्री पर्याय धारण नहीं करता है और न नपुंसक, नीच कुल, दरिद्रता, अल्पायु आदि दुःखोंके कारणोंमें उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शनका माहात्म्य सर्वोपरि है। जिसको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो गई वह

देवेन्द्रोंसे पूजित होकर मोक्षको प्राप्त करता है। ऐसा कोई संसारमें कार्य नहीं है जो सम्यग्दर्शनके प्रसादसे सिद्ध न हो। समस्त प्रकारके मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं और सब प्रकारके सुख प्राप्त हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टी जीवको जब मोक्षकी प्राप्ति सरल है तब इतर संसारके तुच्छ सुख क्यों नहीं प्राप्त हों? वह चक्रवर्ती, तीर्थंकर और देवेन्द्र आदिके उत्तम पदोंको प्राप्त होता है।

सम्यग्दृष्टी पुरुषोंकी राजा सेवा करते हैं, स्वर्गकी लक्ष्मी उसकी सेवा करती है, समस्त गुणोंकी वृद्धि उसको प्राप्त होती है, समस्त प्रकारकी सिद्धि स्वयमेव सिद्ध हो जाती है और वह कर्मोंको नाशकर शीघ्र ही संसारसमुद्रके पार है इसलिये अपने सम्यग्दर्शनको निर्मल करो।

सम्यग्दर्शन सहित नीच पुरुष भी देवोंसे पूजा जाता है और गुणोंका स्वामी होता है। परन्तु जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह ऊंच पुरुष होनेपर भी सबसे नीच होजाता है। गुणभूषण होनेपर भी दोषोंका पात्र होजाता है।

इति श्रीमद्गुणभूषणाचार्य विरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभिधान-श्रावकाचार साधु नेमिदेवनामाङ्किते सम्यक्त्ववर्णन प्रथमोद्देश ॥

